RNI No. 7127/60 डाक पंजीयन संख्या - Jaipur City / 411 2020-22

संघशक्ति

मासिक समाचार पत्रिका

वर्ष : 58 अंक : 07 प्रकाशन तिथि : 25 जून कुल पृष्ठ : 36 प्रेषण तिथि : 4 जुलाई 2021

शुल्क एक प्रति : 15/- वार्षिक : 150/- रुपये पंचवर्षीय 700/- रुपये दस वर्षीय 1300/- रुपये

पू. श्री नारायणसिंह जी रेड़ा

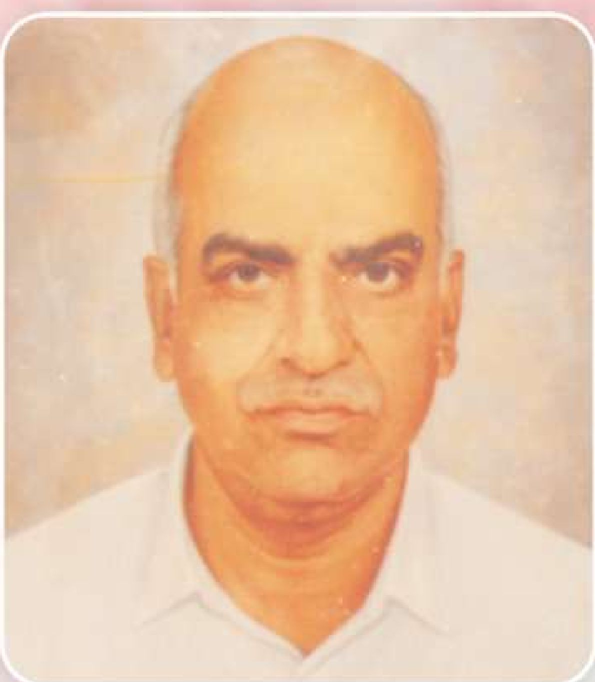

लीधी भगती ठाण, माळा साटै मोकळा।
करम योग न जाण, तपियो तूं नाराण जी।।

हुकुम सिंह कुम्पावत (आकडावास, पाली)
शिव ज्वैलर्स
विश्वसनीयता में एक मात्र नाम
22/22 कैरेट हॉलमार्क आभूषण,
न्यूनतम बनवाई दर पर
शुद्ध राजपूती आभूषण (बाजूबन्द, पूछी, बंगडी, नथ आदि)
तैयार उपलब्ध एवं ऑर्डर से भी तैयार किये जाते है।
विशेषज्ञ :- सोने व चाँदी की पायजेब, अंगूठी, डायमण्ड, कुन्दन के आभूषण, बैंकॉक आईटम्स आदि
जी-1, सफायर कॉम्पलेक्स, जैन मेडिकल के सामने,
खातीपुरा रोड़, झोटवाड़ा, जयपुर
मो. 7073186603, 8890942548

संघशक्ति

4 जुलाई, 2021

वर्ष : 57 अंक : 07

-: सम्पादक :-

लक्ष्मणसिंह बेण्यांकाबास

शुल्क - एक प्रति : 15/- रुपये, वार्षिक : 150/- रुपये, पंचवर्षीय : 700/- रुपये, दस वर्षीय : 1300/- रुपये

विषय - सूची

☞ समाचार संक्षेप	✍	04
☞ चलता रहे मेरा संघ	✍ श्री भगवानसिंह रोलसाहबसर	05
☞ मौन-साधक	✍ स्व. श्री भँवरसिंह बैण्याकाबास	06
☞ पूज्य श्री तनसिंहजी (के सम्बन्ध में)	✍ श्री चैनसिंह बैठवास	07
☞ मेरी साधना	✍ श्री धर्मेन्द्रसिंह आम्बली	10
☞ जालोर के सोनगरा चौहान	✍ श्री अचलेश्वर 'आनन्द'	16
☞ छोड़ो चिन्ता-दुश्चिन्ता को	✍ स्वामी श्री जगदात्मानन्द	20
☞ जिन्दगी साँचों में ढलती	✍ स्व. श्री सूरतसिंह कालवा	25
☞ धर्म-निरपेक्षता	✍ श्री गिरधारीसिंह डोभाड़ा	28
☞ विचार-सरिता (त्रिषष्टि: लहरी)	✍ विचारक	30
☞ मानव के दैनिक समर्पण	✍ ब्रिगेडियर मोहनलाल (से.नि.)	31
☞ अपनी बात	✍	33

समाचार संक्षेप

पाक्षिक समीक्षा बैठक :

श्री क्षत्रिय युवक संघ की गतिविधियों की पाक्षिक रूप से समीक्षा बैठक आयोजित की जाती है। महामारी के कारण अन्य कार्यक्रमों की तरह यह बैठक भी वर्चुअल माध्यम से सम्पन्न होती है। संचालन प्रमुख ने सभी संभाग प्रमुखों तथा केन्द्रीय कार्यकारियों के साथ 3 मई को संवाद करते हुए रिपोर्ट ली तथा आगामी उत्सवों पर अपने-अपने कार्यक्षेत्र में कार्यक्रम आयोजित करने तथा गूगल मीट से केन्द्रीय कार्यालय में लगने वाली साप्ताहिक शाखा से जुड़ने के निर्देश दिए। प्रतिमाह होने वाली दो पाक्षिक बैठकों में से एक बैठक में प्रान्त प्रमुखों को भी जोड़ने का निश्चय किया।

जयन्ती कार्यक्रम :

4 मई को महाराज छत्रसाल बुन्देला की जयन्ती मनाई गई। पिता चंपतराय से ओरछा छिन गया था और वे परिवार सहित जंगलों में रहकर संघर्षरत थे, ऐसी परिस्थितियों में महाराज छत्रसाल का जन्म हुआ। 10-12 वर्ष की आयु में माता-पिता का साया भी उठ गया। मिर्जा राजा जयसिंह की सेवा में रहकर स्वयं को सैनिक गतिविधियों में पारंगत किया और एक अप्रतिम योद्धा के रूप में अपने आप को तैयार किया। शिवाजी महाराज से मागदर्शन भी प्राप्त किया और अलबेले बुन्देले वीरों को साथ लेकर मुगलों से संघर्ष किया। विस्तृत क्षेत्र पर अपना आधिपत्य जमाकर स्वतंत्र साम्राज्य की स्थापना की। 85 वर्ष की आयु तक अपनी कीर्ति फहराई। इस कार्यक्रम में बुन्देलखण्ड से संघ के सहयोगी सम्मिलि हुए, जयपुर के अलावा अन्य शाखाओं से भी स्वयंसेवक सम्मिलित हुए।

9 मई को महाराणा प्रताप की आंग्ल पंचांग के अनुसार जयन्ती मनाई गई। इस कार्यक्रम में समाज के राजनैतिक अग्रणियों ने सम्मिलित होकर महाराणा प्रताप के जीवन के विभिन्न पहलुओं पर अपने विचार प्रकट किए। संघ से संबद्ध यू-ट्यूब चैनल तथा विभिन्न फेस बुक पेजेज के माध्यम से लगभग दस हजार लोग पूरे कार्यक्रम के दौरान जुड़े रहे। बाड़मेर संभाग में महाराणा प्रताप की जयन्ती के साप्ताहिक कार्यक्रम आयोजित होने प्रारम्भ हुए। 9 मई से लेकर भारतीय पंचांग के अनुसार ज्येष्ठ शुक्ला तृतीया (13 जून) तक प्रत्येक सोमवार को विभिन्न समाज के विद्वानों को महाराणा प्रताप के जीवन पर अपने विचार रखने का अवसर मिलता रहा।

अक्षय तृतीया (14 मई) को विभिन्न शाखाओं में महाराज शेखाजी की पुण्यतिथि के अवसर पर कार्यक्रम आयोजित हुए। 24 गाँवों की अपनी जागीर को बढ़ाकर 360 गाँवों का राज्य स्थापित करने वाले महाराव शेखाजी ने अपने जीवन में 52 युद्ध लड़े। उनमें लोकतांत्रिक भाव अद्‌भुत था। सबको साथ लेकर चलने में वे माहिर थे। सर्वधर्म स्वभाव के प्रतीक थे तो नारी सम्मान की रक्षा हेतु तो अपने प्राण तक न्योछावर किए। क्षात्र पुरुषार्थ फाण्उडेशन की शाखा में निर्वाण दिवस के साथ उदयपुर के स्थापना दिवस तथा अक्षय तृतीया पर भी विचार प्रकट किए गये।

बुद्ध पूर्णिमा के अवसर पर महात्मा बुद्ध के जीवन वृतांत पर विस्तार से बताया गया। राजकुमार के रूप में जन्म और संन्यासी के रूप में पूरा जीवन। तामसिक वृतियों के प्रसार पर उनके विनाश का कार्य क्षात्रधर्म का है और उन्होंने कर्म काण्ड में व्याप्त तामसिकता को दूर करने का अभियान चलाकर क्षात्रधर्म का पालन किया।

हवलदार मेजर परमवीर पीरूसिंह की जयन्ती 20 मई को मनाई गई। इस जयन्ती कार्यक्रम में उनके जीवन का परिचय और उनके द्वारा दुश्मनों के ठिकानों पर किए गये साहसिक आक्रमण की जानकारी दी गई। कार्यक्रम में यह भी बताया गया कि परमवीर चक्र किस प्रकार के कार्य पर मिलता है। साथ ही भारत में अब तक जितने राजपूत योद्धाओं को यह सम्मान मिला है, उनका संक्षिप्त परिचय भी दिया गया।

बादशाह की शहजादी के विवाह का प्रस्ताव ठुकराकर बादशाह से टक्कर लेने वाले वीरमदेव के बलिदान

(शेष पृष्ठ 9 पर)

चलता रहे मेरा संघ

{विशेष मिलन शिविर माणकलाव में दिनांक 15.6.2004 को संघप्रमुख माननीय श्री भगवानसिंह जी द्वारा उद्बोधित प्रभात संदेश का संक्षेप।}

श्री क्षत्रिय युवक संघ में आकर हमने कुछ बातें जानी। उससे पहले भी हम अगर इन बातों को सुनते रहे हैं, तो भी हमारा ध्यान उन पर नहीं गया। यहाँ बार-बार उन शब्दों का उच्चारण हम करते हैं, चाहे वह हमारे जीवन में न भी उतर पाया हो। उनमें से एक शब्द है-साधना। हम साधक हैं और साधना कर रहे हैं। साधना की आवश्यकता क्या है? क्यों की जाए साधना?

परमेश्वर स्वयं पूर्ण है, ऐसा अनुभवी लोग बताते हैं। हम उस पूर्ण का अंश हैं। वह स्वयं अपने आप में सिद्ध है और हम उसके अंश हैं। अर्थात् उसकी पूर्णता हमारे अन्दर भी विद्यमान है। परमेश्वर ने अपना प्रकटीकरण इस संसार में किया है। जो इस बात को समझ जाते हैं, उनकी बात अलग है। सामान्यतया जो कुछ उसने बनाया वह उसी का रूप है। उसने जो संसार में बनाया उसमें से एक है माया। जो दिखाई देता है वह है नहीं और जो है वह दिखाई नहीं देता यह है माया के कारण। साधना क्या है, साधना क्यों की जाती है, इस पर विचार करें।

माया के कारण भ्रम है और उसके कारण संसार में भटकाव होता है। सत्य पर एक आवरण चढा हुआ है माया का। दृश्य के सामने पर्दा लगा है माया का। अत: जो भासित होता है उसी को हम सत्य मान लेते हैं और सत्य भासित नहीं हो पाता। भोजन करने में भी माया अपना रूप प्रकट करती है। भोजन आवश्यकता है शरीर की। शरीर को पुष्ट करना है, भोजन शरीर का ईंधन है। लेकिन भोजन में उसका स्वाद माया है। इस माया के प्रभाव में ही मूल बात शरीर को पुष्ट करना है यह भूल जाते हैं और स्वाद में उलझ जाते हैं। इसी प्रकार स्त्री-पुरुष के मिलन को काम का नाम दिया। वह भी भगवान का ही बनाया हुआ है। काम का हेतु सृष्टि का संवर्धन है परन्तु उसमें सुख भोग में उलझ जाएँ तो माया आ गई। माया इस तरह हमारी अपूर्णता दर्शाती है जबकि हम अपूर्ण हैं नहीं। इस अपूर्णता को दूर करने के लिए किए जाने वाले कार्य साधना है। माया के कारण हेतु भूल जाते हैं-घर में, कार्यालय में, सभी जगह।

उस लीला को समझने का प्रयास करें-हम अपूर्ण हैं ही नहीं। पूर्णता पर आए आवरण को हटाना ही साधना है। निर्बलता को दूर करने का प्रयास नहीं है, हम निर्बल नहीं हैं यह आभास करवाना शिविर का हेतु है। शक्तिमान हैं पर हमारी शक्ति आवृत है। हमने शिविर में परमेश्वर को अपना काम करने के लिये अपने आपको छोड़ दिया। तब लगा हम चाहें जो कर सकते हैं। यही ईश्वर है अर्थात् पर्दा हटा। अब परमेश्वर की चाह की कलियाँ चटकती रहें।

हमने ही यह किया, यह भाव भी भ्रम है। इस भ्रम को अगर हम हटाएँ तो हमारी पूर्णता दिखाई देना बन्द हो जाएगी। साधक पूर्णता की ओर ज्यों-ज्यों बढता है त्यों-त्यों काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर इत्यादि को परमेश्वर हल्का कर देता है। परमेश्वर की हम सभी पर असीम कृपा है, और सदा बनी रहती है पर माया के आवरण के कारण हमें दिखाई नहीं देती। सूर्य की किरणें चारों ओर फैल रही हैं पर घर बन्द करके अन्दर बैठ जाएँगे तो दिखाई कैसे देंगी। हमारे जीवन में साधना प्रारम्भ हुई है। परमेश्वर की हमारे ऊपर कृपा हुई है। हमारी दिखाई देने वाली अपूर्णता नष्ट होगी यदि हम अपने आपको ईश्वर के सम्मुख खुला छोड़ दें तो। श्री क्षत्रिय युवक संघ में स्वतंत्र छोड़ दें, संघ को हमारे ऊपर जैसा वह चाहे काम करने दें तो विपुल संभावनाएँ बनती हैं। हमारी साधना सदैव गतिमान रहे, इस शिविर के अन्तिम दिन के प्रभात की यह मंगल कामना है। ❑

नारायण स्मृति

मौन-साधक

– स्व. भँवरसिंह बैण्याकाबास

नर कहूँ या नारायण अथवा दोनों का सामञ्जस्य! सिंह कहूँ या नरसिंह!! अब कुछ भी कहते रहो सब कुछ शून्य में समा गया। हे दिवंगत मौन साधक तुम्हें शत् शत् नमन! श्री साहब तनसिंहजी ने तुम्हें योग्य पात्र समझा; हम सबने सच्चा सहयोगी। परन्तु क्या किसी ने तुम्हारे अन्तर को समझा? नहीं। अपनी अन्त: वेदना को दबाते हुए ऊपर से मुस्कराते ही रहे। क्या हमारा उपहास कर रहे थे?

वास्तव में निकले निरे स्वार्थी और दगाबाज! मझधार में जो दगा दे गये। क्या जल्दी थी इतनी भी; हमें भी तो देखो तुमसे पहले आये थे और अभी यहीं ठोकरें खा रहे हैं। हो सकता है तुमने परमपद पाया हो; किसने देखा? हम संसारी तो इसे धोखा ही कहेंगे; जो साथ-साथ खाने-खेलने का संकल्प लेकर अकेले-अकेले ही अमृत-फल खा गये।

तुमने सब कुछ पाया हमने सब कुछ खोया, तुम जीते हम हारे, परन्तु क्या बिगड़ जाता तुम्हारा जो जाते जाते एक स्नेह-मिलन तो कर जाते? तुम्हें डर था सिद्धार्थ की भाँति उसने यशोधरा और राहुल को सोते हुए छोड़ा; तुमने हम सबको रोते हुए छोड़ा। तुम निर्मोही थे! तुम्हें भय था कि कहीं तुम्हारा मोह जाग न उठे, वैराग्य डिग न जावे और तुम अमृत-फल से वंचित न रह जाओ। हम क्या उसमें हिस्सा बंटा रहे थे? बंटा भी कैसे सकते थे? ''आ न किण रे बाप री भगती रजपूती'' ''रेड़ा-खेड़ा छोड़ सारा जग का बखेड़ा। नर देह त्याग तूं गया नारायण के नेड़ा''।

कैसे उलाहना दूँ? रोना आता है। गम इतना ही है कि हँसते-बोलते जाते, रूठ कर क्यों गये? क्या रूठने में विशेष आनन्द आया था तुमको? वही वांछित परमानन्द! ब्रह्मानन्द!! जिसके लिये तड़फ रहे थे। तुमने तो इस उक्ति को चरितार्थ कर दी- ''झूंठी काया, झूंठी माया, झूंठा सब संसार।'' क्या हम सभी झूंठे थे? कोई तो होगा तुम्हारे मन मेळी। एक दिन सबको यह घर छोड़ना है, पर क्या उस घर में पुनर्मिलन हो सकेगा? कौन कह सकता है? जो तुम स्वार्थी और लोभी ही थे तो हमारी सच्ची कमाई भी तुम्हें अर्पित है तुम्हारी आत्मा की शान्ति के लिये-

''हे नारायण! तुम मिलकर जाते।
उपालम्भ मैं दूँ अब कैसे? आज अधिक हो भाते।
हाय! मेरे अन्तर के स्वर ये, तुम तक पहुँच जाते।।
महा प्रयाण को जाते जाते, कुछ थोड़ा सा दे जाते।
उसी सम्बल को संजोकर, हम भी कुछ तो कर पाते।।
हे नारायण! तुम मिलकर जाते।।''

परन्तु यह क्या? मैं क्या सुन रहा हूँ? क्या यह तुम्हारी ही वाणी है? क्या मेरे स्वर तुम तक पहुँच गये? मैं कानों से सुन रहा हूँ आँखों के सामने कुछ नहीं। रेडियो सुन रहा हूँ। टी.वी. मेरे पास नहीं है, जिस पर बोलने वाले का चित्र भी देख सकूँ। लौकिक टी.वी. तो है अलौकिक टी.वी. नहीं है। आवाज आ रही है-

''सिर पर काल खड़ा।
सोने जैसी काया तेरी, अन्दर सड़ा सड़ा।
सौ सौ रोग पले हैं भीतर बाहर क्यों अकड़ा?
हाय मिलेगा मिट्टी में सब, वर्ण सुवर्ण खरा।
तू जो कहता तेरा मेरा यह जग का पचड़ा
सूख जाएगा तेरा उपवन जो है आज हरा।
बाहर भरा भरा जो लगता अन्दर रिक्त पड़ा।
राग द्वेष अरु लोभ मोह से, करले तू झगड़ा।
राम-नाम का अमृत पीकर होगा तू तगड़ा।
तभी बचेगा इन दुष्टों से, नहीं जाएगा पकड़ा।
कर्म योग के ज्ञान मार्ग को, मत समझे सकड़ा।
आखिर न्याय करेगा तेरा, पाप-पुण्य का पलड़ा।
सिर पर............''

उपदेश तो जाने पहचाने से ही हैं। क्या वहाँ भी यही काम शुरू कर दिया? वहाँ तो कोई दुष्ट हैं ही नहीं। परन्तु रह कैसे सकते हो आदत से लाचार जो हो। ❑

गतांक से आगे

पूज्य श्री तनसिंहजी (के सम्बन्ध में)

''जो कुछ देखा, समझा व अनुभव किया''

– चैनसिंह बैठवास

सखा भाव अपने आप में कितना महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली है, इसकी जीवन में क्या अहमियत है, इसकी महत्ता गीता में दर्शायी गई है। सखा भाव का सृजन क्यों आवश्यक है, इसके महत्त्व को समझाते हुए पूज्य श्री तनसिंहजी ने कहा–

''कलियुग के भौतिकवादी युग में गीता का मर्म समझना अथवा समझाना कठिन है, किन्तु कृष्णार्जुन की भाँति हम सखा भाव निर्माण कर देते हैं, तो गीता हमारे सखाओं के लिए बहुत सरल बन जाएगी। अत: गीता–ज्ञान के प्रसार के लिये गुरुडम का विनाश कर सच्चे सखा भाव व आत्मीयता का निर्माण करना होगा।''

मित्रों में जो अन्तरंग सम्बन्ध होता है, वह भाई–भाई में नहीं होता यानी मित्रता का नाता रक्त सम्बन्ध से भी अधिक गहरा होता है। मित्रता में हित का भाव अधिक होता है, इसलिए जो भाई–भाई के लिए जितना त्याग नहीं करता उतना त्याग मित्र अपने मित्र के लिए हँसी–खुशी व प्रसन्नता से कर डालता है। इस बात को और अधिक स्पष्ट ढंग से समझाने के लिए पूज्य श्री तनसिंहजी ने हमें जो कहा–उन्हीं की जुबानी–

''मनुष्य–स्वभाव के लिए यह कहावत प्रसिद्ध है कि, ''दिल लगा सो सगा, हाड न सगा होय' जिसका अर्थ है कि मित्रता का नाता रक्त के नाते या सम्बन्ध से अधिक गहरा होता है। वस्तुत: रक्त–सम्बन्ध भी बहुत गहरा होता है, किन्तु उसमें अन्तर यह होता है, कि वह प्रत्येक अवसर पर बाहर नहीं आया करता। जीवन में सिर्फ इक्की–दुक्की बार ही प्रकट होकर अपने आश्चर्यपूर्ण प्रभाव को छोड़ जाता है; किन्तु मित्रता का सम्बन्ध मनुष्य जीवन के दैनिक व व्यावहारिक जीवन में भी पर्याप्त रूप से दृष्टिगोचर होता है, इसलिए हम प्राय: देखा करते हैं, कि लोग अपने भाई के लिए जितना त्याग नहीं कर सकते, उतना अपने मित्र के लिए हँसी–खुशी से कर देते हैं। मित्रता का सम्बन्ध ऐसा सच्चा सम्बन्ध होता है कि उसमें प्रदर्शन बहुत कम रहता है। मित्र अपने मित्र को बिना हिचकिचाहट के खरी–खोटी भी सुना देता है और यदि उसे कुछ अच्छी वस्तु प्राप्त हो तो अपने मित्र के लिए भी उसका उचित भाग दे देता है। नई बात यदि किसी मित्र को ज्ञात हो, तो वह उसे सर्वप्रथम अपने मित्र के सन्मुख ही प्रकट करेगा। कई ऐसी गोपनीय बातें भी होती हैं, जो हम किसी को भी कहना उचित नहीं समझते किन्तु यदि किसी को कहते भी हैं, तो परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप में हम उसे यही कहते हैं, कि देखो! तुम मेरे मित्र हो, इसलिए तुम्हें यह बात कहता हूँ–

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वच:।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया।।

गीता–10/1

हे महाबाहो! मेरे परम रहस्य और प्रभावयुक्त वचन को फिर सुनो; जो कि मैं तुझ अतिशय प्रेम रखने वाले के लिए हित की इच्छा से कहूँगा।

मित्र कई बार गलती करता है, तब फटकार कर हम कहते हैं, कि 'तुम अमुक रास्ता छोड़ दो–मैं तुम्हारे हित के लिये यह बात कहता हूँ; क्योंकि तुम मेरे मित्र हो।' इस प्रकार मित्र की सलाह में आत्मीयतापूर्ण सच्चाई का महत्त्व होता है, पर उससे भी अधिक उसका महत्त्व हित के दृष्टिकोण का रहता है। सखा होने के कारण ही श्री कृष्ण के ये शब्द –

सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे। गीता – 18/65

'यह मैं तेरे लिए सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तू मेरा प्रिय हैं'–श्री कृष्ण के ये शब्द उन शब्दों से मिलते हैं जब हम अपने सखा को कहते हैं–'तुम्हारी सौगन्ध, मैं सच कह रहा हूँ, क्योंकि तू मेरा मित्र है।'

कुरुक्षेत्र में जिस समय श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गीता का ज्ञान दिया, उस वक्त और भी बहुत सारे ज्ञानी, विद्वान, दानी, उदार, सत्यवादी, भक्त, वीर शिरोमणि थे फिर भी श्रीकृष्ण ने गीता ज्ञान के लिए अर्जुन को ही उपयुक्त पात्र माना। क्यों?

श्री कृष्ण ने गीता में कहा –

''यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया।''

''अर्जुन तेरे भीतर मेरे प्रति प्रेम का भाव है और मेरे भीतर तुम्हारे प्रति हित का भाव है। तूं मेरा भक्त और प्रिय सखा है इसलिए मैं उत्तम परम रहस्य की बात तुझे बताता हूँ।''

इसको और अधिक स्पष्ट करते हुए जो बात पूज्यश्री तनसिंहजी ने हमें कही, उन्हीं की जुबानी–

''गीता में कृष्ण ने सारा उपदेश अर्जुन को दिया है। स्वाभाविक रूप से भी यही बात कृष्ण द्वारा अर्जुन को ही कही जानी थी। कृष्ण के भाई बलराम थे, उद्धव और अक्रूर भक्त थे, आदरणीय व पूज्य द्रोण व भीष्म पितामह थे, विदुर विद्वान थे, सच्चे व चरित्रवान युधिष्ठिर थे, बलवान भीम थे, उदार और धुनर्धारी कर्ण थे, परन्तु इन सब को छोड़कर गीता के ज्ञान के लिए अर्जुन को ही उपयुक्त पात्र इसीलिए चुना गया कि अर्जुन कृष्ण के सखा थे। इस कथन की पुष्टि स्वयं गीता कहती है–

सर्वगुह्यतमं भूय: शृणु मे परमं वच:।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।।

गीता– 18/64

स एवायं मया तेऽद्य योग: प्रोक्त: पुरातन:।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।।

गीता– 4/3

संपूर्ण गोपनीयों से भी अति गोपनीय, मेरे परम रहस्ययुक्त वचन को तू फिर भी सुन, क्योंकि तू मेरा अतिशय प्रिय है और इसीलिए यह परम हितकारक वचन मैं तेरे लिऐ कहूँगा।

वह ही यह पुरातन योग अब मैंने तेरे लिए वर्णन किया है; क्योंकि तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है, तथा यह योग बहुत उत्तम और रहस्य का विषय है।''

अर्जुन श्रीकृष्ण को अपना प्रिय सखा पहले से ही मानता था। उनके बीच में गुरु–शिष्य का भाव नहीं पनपा था। यदि ऐसा होता तो अर्जुन कृष्ण को कभी सारथि स्वीकार नहीं कर पाता। अर्जुन का कृष्ण के प्रति विशेष भाव था, तभी तो उन्होंने वैभव और अस्त्र–शस्त्रों से सुसज्जित 'नारायणी सेना' का त्याग करके नि:शस्त्र श्रीकृष्ण को अपने सारथि के रूप में स्वीकार किया– गीता–4/3

अर्जुन और कृष्ण के मध्य जो परस्पर सम्बन्ध थे, उनको स्पष्ट करते हुए पूज्य श्री तनसिंहजी ने बताया–

''उपदेश प्राय: शिष्य को ही दिया जाता है, पर उसमें शिष्य पर गुरु के उपदेश की गम्भीरता की अपेक्षा अनुशासन व गुरु के व्यक्तित्व की गुरुता का अधिक दबाव रहता है, इसलिए वह ज्ञान चाहे जैसा भी हो, शिष्य उसे स्वीकार करता ही है। इस प्रकार शिष्य की मनोवृत्ति पर गुरु की अंधभक्ति का अधिक प्रभाव हुआ करता है, किन्तु मित्रों के बीच मानवता का भाव रहने के कारण अंधश्रद्धा के कुपरिणामों से बचाव जरूर हो सकता है। अर्जुन में सखा होने के नाते ही अंधश्रद्धा नहीं थी, इसलिए परस्पर विपरीत तर्क के आते ही उसने तत्काल अपनी शंका रख दी–

तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव। गीत– 3/1

तब फिर हे केशव! मुझे भयंकर कर्म में क्यों लगाते हो?

कृष्ण के प्रति अंध भक्ति होती तो बिना सोचे–समझे ही अर्जुन 'एवमस्तु' या 'जो आज्ञा' कहकर लड़ने जाता। गुरु शिष्य को आज्ञा दिया करता है, किन्तु मित्रता के सम्बन्ध में तो हितैषिता की भावना से भरा अंतरंग अनुरोध रहता है।

अर्जुन ने तो एक जगह कृष्ण के प्रति बड़ा व्यंग–सा कसा है–

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्।।

गीता– 3/2

'आप मिले हुए से (अस्पष्ट व भ्रम पैदा करने वाले) वचन से मेरी बुद्धि को मोहित–सी करते हैं, इसलिए उस एक बात को निश्चय करके कहिये कि

जिससे मैं कल्याण को प्राप्त होऊँ।' किन्तु इस आक्षेप और शंका से भगवान विचलित नहीं होते और सतत् रूप से उसे समझाते रहते हैं। अन्त में फिर मित्र की भाँति उसे पूछते हैं, कि अब तो समझ में आई या नहीं?

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय।।

गीता- 18/72

इस प्रकार उसकी समस्त शंकाओं का धैर्यपूर्वक समाधान करने पर ही हम उसके हृदय को जीत सकते हैं और उसकी निजी विचारधारा पर हम अपनी विचारधारा की छाप लगा सकते हैं। ऐसा होना तभी सम्भव है, जबकि हम हमारी लोक-संग्रह की भावना के प्रचार में मिथ्याडम्बर, गुरुडम और अल्पजीवि साधनों का आश्रय न लें। हमारे समाज में ऐसे बहुत से लोग हो चुके हैं, जिन्होंने बाह्याडम्बरों से अथवा प्रचार से महापुरुष बनकर जन-जीवन के हृदय को जीतने की चेष्टा की है, किन्तु उनके परिणाम किसी से छिपे नहीं हैं। जन-जीवन में कोई भी विचारधारा तब तक गले नहीं उतरेगी, जब तक वह स्वयं उसे ग्रहण नहीं करता। भगवान ने सारा ज्ञान देकर अर्जुन को छुट्टी दी, कि मैंने तुझे सब कुछ बता दिया, अब तुम्हारी इच्छा हो वैसा करो-

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण येथेच्छसि तथा कुरु।।

गीता- 18/63

'इस प्रकार यह गोपनीय से भी अति गोपनीय ज्ञान मैंने तेरे लिए कहा है। इस ज्ञान को ठीक प्रकार विचार करके फिर तू जैसा चाहता है, वैसा ही कर।' यह उक्ति स्पष्ट बता रही है, कि गीता का ज्ञान भगवान ने अपने भागवत्तत्व की छाप लगाकर हम पर नहीं थोपा है, बल्कि उसे तर्क के लिए और हमारे अन्तिम निर्णय के लिए छोड़ दिया है।

तर्क के लिए वही ज्ञान छोड़ा जा सकता है, जो स्वावलम्बी हो। जिस ज्ञान को खड़ा होने के लिए किसी की व्यक्तिगत, वंशगत अथवा पदगत महत्ता का अभय लेना पड़ता है उस ज्ञान में चारित्र्य की एक आंतरिक लघुता रहती है, किन्तु वह ज्ञान जो व्यक्ति के सभी तर्कों व शंकाओं से टक्कर लेकर उन्हें चूर-चूर करने का सामर्थ्य रखता हो, उस ज्ञान का आकार चाहे जितना ही छोटा हो, हृदय में अपूर्व और विपुल मनोबल देता है। गीता का ज्ञान भी ऐसा ही स्वावलम्बी ज्ञान है। अर्जुन उसे तत्काल स्वीकार नहीं करता, बल्कि अनेक प्रकार के तर्क, शंकाएँ एवं प्रतिवाद भी करता है और अन्त में जाकर उस ज्ञान की विजय को स्वीकार करता है-

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।।

गीता- 18/73

हे अच्युत! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है और मुझे स्मृति प्राप्त हुई है, इसलिए मैं संशयरहित हुआ स्थित हूँ और आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।

यहाँ विशेष ध्यान देने की बात है कि अर्जुन ने आज्ञा पालन संशयरहित होने पर करने को कहा है। सखा होने के कारण ही यह ज्ञान अर्जुन के अन्तःकरण की भीतरी गहराइयों में पहुँच सका है।''

(क्रमशः)

समाचार संक्षेप

पृष्ठ 4 का शेष

दिवस पर 18 मई को जालोर संभाग द्वारा वर्चुअल कार्यक्रम आयोजित किया गया। वीरमदेव के आदर्श चरित्र तथा चुनौती का साहसिक उत्तर देने की जानकारी विस्तार से दी गई। साथ ही हीरादे के अनुकरणीय चरित्र की भी चर्चा हुई जिसने श्रेष्ठ का चयन करते हुए राज्य के प्रति दगा करने वाले अपने पति को भी मार गिराया।

अलबेले वीर आल्हा की जयन्ती 25 मई को जयपुर संभाग द्वारा वर्चुअल रूप से मनाई गई जिसमें उत्तरप्रदेश के संघ प्रान्त से भी विद्वजन सम्मिलित हुए।

बीकानेर का स्थापना दिवस 13 मई को मनाया गया। बीकानेर राज्य की स्थापना में बीकाजी के पुरुषार्थ की चर्चा के साथ आगे बीकानेर के विकास में बीकानेर के राजाओं द्वारा किए गये कार्यों की भी चर्चा हुई। ❑

गतांक से आगे

मेरी साधना

लेखक – पू. आयुवानसिंहजी, गुजराती भाष्य–श्री बलवंतसिंह पांची, हिन्दी अनुवाद–श्री धर्मेन्द्रसिंह आम्बली

अवतरण–85

मेरी साधना की अतीव मन्द प्रगति से भी मैं क्षुब्ध हूँ, पर करूँ क्या, साधन–विहीन और निर्धन जो हूँ। नग्न अर्थ की उपासना, उसके केन्द्रीयकरण और दोषपूर्ण वितरण का युग है यह। इस संपूर्ण प्रणाली में मेरे तो कुछ भी हाथ नहीं पड़ता। कलियुग की यह साधना बहुत अंशों में साधन–शक्ति पर अवलम्बित है। पर निराश क्यों होता हूँ? अर्थ की उत्पादक कार्य–शक्ति तो मेरे पास है, इसका युक्ति और बुद्धि से सामञ्जस्य कराऊं,–देखूं कुछ सफलता मिलती है अथवा नहीं।

युगशक्ति धन, जिसका अभाव नहीं। मंद मेरी गति का क्षोभ, ढूंढूं उपाय युक्ति–बुद्धि से।

इस अवतरण को समझने के लिये श्री क्षत्रिय युवक संघ के स्थापना काल के इतिहास को जानना पड़ेगा। राजस्थान और गुजरात में समाज का आम आदमी आर्थिक अभाव अनुभव करता था। इस बात की विगत, इस प्रवृत्ति की नींव में जिन्होंने बहुत योग दिया, माननीय सज्जनसिंह जी राजस्थली से जानी जा सकती थी।

अवतरण की शुरुआत के दो वाक्य उस समय समाज हालाल का हूबहू वर्णन करते हैं। उस समय की समाज की आर्थिक अभाव की स्थिति की आज हम कल्पना भी नहीं कर सकते। आज तो समाज का युवा वर्ग हवा में उड़ता है। उसको तो वे हालात समझ में आएँगे ही नहीं, गले उतरेगी ही नहीं।

अवतरण में साधक का आजादी के बाद की राष्ट्र की अर्थव्यवस्था की ओर का आक्रोश व्यक्त होता है। वह उचित ही है। उसकी चर्चा करने की कोई आवश्यकता नहीं।

'कलियुग की यह साधना बहुत अंशों में साधन–शक्ति पर अवलम्बित है।' लेकिन आर्थिक अभाव की विडम्बना में भी निराश होने की आवश्यकता नहीं, ऐसी हिम्मत बंधाते हुए साधक कहते हैं–'अर्थ की उत्पादक कार्य–शक्ति (मानव बल) तो मेरे पास है, इसका युक्ति और बुद्धि से सामञ्जस्य कराऊँ।'

उस उपार्जित शक्ति का युक्ति और बुद्धि पूर्वक उपयोग करके, धन उपार्जन करके फिर देखूं कि सफलता मिलती है या नहीं? इस बात को हम ऊपरी तौर पर देखें यानी स्थूल दृष्टि से देखें तो लगेगा कि सफलता मिली है। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखना–सोचना शुरू करें तो सफलता काफी दूर है, ऐसा स्पष्ट रूप से समझ में आता है। सफलता–निष्फलता की बात अलग रखकर थोड़ा गहराई से सोचें तो पता चलेगा कि हमारे समाज को सूक्ष्म दृष्टि से किसी घटना, किसी विचार, किसी कार्य का मूल्यांकन करने की आदत ही नहीं है। हमारा तो ऊपरी तौर का, हल्का निरीक्षण होता है। गहराई तक जाने की आदत कम है। इसीलिए, किसी वस्तु, किसी विचार का जो स्वरूप है उसको हम अलग स्वरूप में ही देखते हैं। इस बारे में बहुत कुछ करने की, लिखनेकी इच्छा है मगर अपने नाप की टोपी ओढकर व्यक्तिगत आक्षेप लगाया जा रहा है, ऐसा आरोप न लगे इसलिए संयम रखते हुए, नहीं लिख रहा हूँ।

'मेरी साधना' सामाजिक क्षेत्र की चर्चा करके समाज के हित की बात करती है। किसी का भी व्यक्तिगत दोष बताने की, कमियों की, त्रुटियों की ओर ध्यान खींचना इसलिए टाल दिया जाता है कि इससे विवाद बढेगा। विवाद से समाज का हित नहीं हो सकता इसलिए समाज में संवादी वातावरण खड़ा हो, वैसा वातावरण बनाकर, समाज की सामाजिक कमियों, त्रुटियों की ओर प्रेमभाव से ध्यान खींचने का प्रयास करने का चलन अपनाते हैं।

साधक को साधना की मंद गति के लिए क्षोभ होता है। मंद गति के लिए आर्थिक परिस्थिति कारण भूत बताते हैं। हमारी आर्थिक हालात का कारण आज के शासन की दोषपूर्ण अर्थव्यवस्था है, ऐसा भी बताते हैं। मंदगति के लिए साधक को जो क्षोभ होता है, वैसा क्षोभ क्षत्रिय समाज अनुभव करने लगे कि मेरे समाज के हित की प्रवृत्ति इतनी मंद क्यों? इसके लिए मेरा क्या उत्तरदायित्व है? ऐसा समाज के अग्रणी कार्यकर्ता सोचने लगेंगे तब इस मंद गति को तेज गति में परिवर्तित होने में देर नहीं लगेगी।

समाज के लिए प्रवृति मंद चलती है, इस बारे में हम सभी सोचने लगें। गति को वेगवान बनाकर समाज का भविष्य उज्ज्वल बनाने के लिये अपने से होने वाले सभी प्रयत्न करने का संकल्प करें। संकल्प द्वारा ही सिद्धि प्राप्त होती है। समाज में ऐसा वैचारिक परिवर्तन शीघ्र आ जाए, ऐसी प्रार्थना।

अर्क- **रूखे सूखे जीवन से वैभव की आँख खुले रे।**

- पू. तनसिंहजी

अवतरण-86

मैंने एक विज्ञापन निकाला-'मेरी साधना के लिए एक सच्चे मित्र की आवश्यकता है?' बहुत से आवेदन पत्र आए। कई आशार्थियों को भेंट के लिए बुलाया। उनमें से मैंने त्याग नामक एक कृश-गात व्यक्ति को उपयुक्त पात्र चुना। इसलिए नहीं कि वह सर्वाधिक सुन्दर और आकर्षक था, बल्कि इसलिये कि उसके पास वह हेतु-रहित सिद्ध शक्ति थी जो पलमात्र में साधन-सम्पत्ति का तो ढेर लगा सकती है पर प्रतिकार में धन्यवाद को स्वीकार नहीं करती।

मेरी साधना के सभी अवतरणों का अलग-अलग रीति से व्यावहारिक, सूक्ष्म, आदर्श और उपयोगिता की दृष्टि से अर्थघटन, विश्लेषण, विवेचन करने वाले के स्तर के अनुसार विस्तृत रूप से किया जा सकता है। क्षमता और दृष्टि के अनुसार विस्तार किया जा सकता है। सामाजिक प्रवृति के अनुसार यह पुस्तक सामाजिक, दृष्टिकोण से उपयोगी हो सके वैसा अर्थघटन करके समाज के सामने प्रस्तुत करने के आशय से 'पथ प्रकाश प्रेरणा' में प्रथम पृष्ठ पर सात वर्ष से नियमित 'मेरी साधना' शीर्षक तले प्रस्तुत किया जा रहा है। उसमें जो बताया गया है उतना ही इसका अर्थघटन है, यह मान लेने की आवश्यकता नहीं है। अभ्यासु विद्वान अलग-अलग रीत से विस्तृत और सूक्ष्म रीत से विश्लेषण करके बहुत कुछ समझा सकते हैं। इस लेख श्रृंखला का आशय तो 'मेरी साधना' यानी श्री क्षत्रिय युवक संघ की प्रवृत्ति का क्षत्रिय समाज को टुक परिचय देने का रहा है। इसीलिए अवतरणों का समाज स्पर्शी मूल्यांकन-अर्थघटन करना ज्यादा हितकारी व उचित माना जाए।

इस अवतरण में 'त्याग' शब्द ने मुझे दुविधा में डाल दिया। त्याग शब्द का मूल्यांकन-अर्थघटन क्षमता के अनुसार अलग-अलग कक्षा में कर सकते हैं। इसे समझने के लिये एक छोटा-सा दृष्टांत -

आजादी के संघर्ष में कितने ही लोगों ने अपनी जेल यात्रा की गिनती राष्ट्र के लिए त्याग में करवाई। दूसरी ओर फांसी के फंदे पर चढ जाने वाले अपने भव्य अद्भुत अनूठे त्याग को त्याग नहीं कहते, इसे राष्ट्र के प्रति अपना उत्तरदायित्व बताते हैं। इस भेद को नहीं समझने वाली भारत की भोली-भाली प्रजा ने उत्तरदायित्व समझने वालों को अलग रखकर कहे जाने वाले त्यागवीरों को फूलों से सत्कार कर महानता बक्ष दी। त्याग शब्द को समझने में, मूल्यांकन करने में चूक हो जाती है तो अनर्थ हो जाता है। इस अवतरण में त्याग शब्द को महत्त्व देने, उसकी भूमिका स्पष्ट की गई है।

अब हम इस अवतरण के बारे में सोचें, बात करें। 'मेरी साधना के लिए एक सच्चे मित्र की आवश्यकता है।' श्री क्षत्रिय युवक संघ की प्रवृत्ति की नींव त्याग है। प्रवृत्ति का उद्देश्य है क्षात्रधर्म का पालन। क्षात्रधर्म यानी त्याग और बलिदान, ऐसा शास्त्र और आप्त पुरुष पुकार-पुकार कर कहते हैं। साधक मित्र के रूप में एक उपयुक्त पात्र त्याग नामक व्यक्ति को पसंद करता है।

श्री क्षत्रिय युवक संघ की प्रवृत्ति का आधार है शाखा और शिविर। शाखाएँ दैनिक, साप्ताहिक होती हैं। जिसमें निश्चित किए गये समय पर रोजाना या सप्ताह में आधा या एक घण्टा नियमित उपस्थित होते हैं। शिविर तीन, पाँच, सात या ग्यारह दिन के होते हैं। साथ देने वालों को अचूक हाजिर रहना पड़ता है। लगभग 45 से 50 दिन उस प्रवृति में देने पड़ते हैं इतना समय देने की जिनकी तैयारी हो, वे मित्र के रूप में टिक सकते हैं। जो इतना समय नहीं दे सकते वे-यह प्रवृत्ति बहुत अच्छी व करने जैसी है किन्तु इसके लिये समय खर्च करना मुश्किल है, ऐसा कहकर चलते बनते हैं। और कभी किसी स्वयंसेवक से मिलते हैं तो पूछते हैं-अभी भी संघ की प्रवृत्ति चलती है? उनकी कल्पना के अनुसार यह असम्भव बात लगती है। इतना सारा समय कौन दे सकता है? भारत की नदियाँ तो सूख जाती हैं पर गंगा मैया तो बहती ही रहती है। क्योंकि उसका उद्‌गम स्थल हिमालय है। ठीक उसी तरह श्री क्षत्रिय युवक संघ का उद्‌गम स्थल है, मूल है, क्षात्रधर्म यानी त्याग। जगत में त्याग कभी रुकेगा नहीं। जगत में जितने प्रमाण में त्याग भावना ज्यादा, उतने प्रमाण में सुख-शान्ति भी ज्यादा। त्याग कम तो उसी प्रमाण में सुख-शान्ति कम और संताप ज्यादा। जगत में अभी त्याग का महत्त्व घटा है। इसीलिए जगत में सुख-शान्ति, सलामती कम और संताप ज्यादा, ऐसा हमें प्रत्यक्ष देखने को नहीं मिलता क्या?

हमारे में त्यागवृत्ति टिकी हुई है इसीलिए संघ चल रहा है। संघ अभी तक चल रहा है, ऐसा पूछकर अपनी हीनवृत्ति का प्रदर्शन करते हैं। परन्तु संघवृत्ति निरंतर चला करती है। उसमें सम्मिलित होकर स्वयंसेवक समय निकालकर आते हैं, क्षात्रधर्म की शिक्षा प्राप्त करते हैं। किसी भी प्रकार के धन्यवाद की अपेक्षा किए बिना समय निकाल कर कार्य करते रहते हैं। उनकी त्याग की क्षमता संघ में अभ्यास के द्वारा बढती जाएगी, धीरे-धीरे राष्ट्र, धर्म, संस्कृति और क्षात्रपरम्परा जीवित रखने के लिये सर्वस्व का बलिदान देने की, त्याग करने की क्षमता में परिणित हो जाएगी।

इस अवतरण और अब आगे आने वाले अवतरणों के बारे में चर्चा करना या समझाना मेरे लिए कठिन काम होगा, फिर भी जैसा समझ में आएगा, वैसा लिखकर जिम्मेवारी अदा करूंगा। ईश की आराधना करें, हमें त्याग पथ पर चलते रहने की क्षमता प्रदान करें।

अर्क- **समझ में न आये तो यही बात जानो,**
अभी कई रातें जगानी है बाकी।

अवतरण-87

मेरी साधना में संघर्ष उसी प्रकार ओतप्रोत है जिस प्रकार शरीर में प्राण और जीवन में चेतना। साधना की उत्कर्षपूर्ण अवस्था पर संघर्ष की धारा दो प्रवाहों में विभक्त हो जाती है, अन्तर्मुखी संघर्ष में सूक्ष्मता और बहिर्मुखी संघर्ष में स्थूलता का निवास होने के कारण एक पूर्ण और अखण्ड संघर्ष-शरीर का निर्माण होता है। ये दोनों ही संघर्ष मेरी साधना के लिए प्राण-वायु और आहार-पेय के समान मूल्यवान हैं। यह इसलिए कि इस साधना की उत्पति, स्थिति और लय तीनों ही संघर्षमय हैं।

मेरी साधना में संघर्ष में सूक्ष्म, स्थूल दो रूप; उसके आधार स्तम्भ समान श्वास और आहार।

इस अवतरण में साधक संघर्ष का मूल्य समझाते हुए सूक्ष्म और स्थूल संघर्ष की बात कहते हैं। सूक्ष्म संघर्ष को छोड़कर हम स्थूल संघर्ष के बारे में क्षमता और मर्यादा के अनुसार थोड़ी चर्चा करते हैं। जगत द्वन्द्वात्मक है इसीलिए जगत के जन्म के साथ ही संघर्ष का अवतरण अनिवार्य है। हमको जगत की नहीं, क्षात्रधर्म और संघर्ष की बात करनी है, चर्चा करनी है।

साधक कहते हैं-'ये दोनों ही संघर्ष मेरी साधना के लिए प्राण वायु और आहार-पेय के समान मूल्यवान हैं। यह इसलिए कि इस साधना की उत्पति, स्थिति और लय तीनों ही संघर्षमय है।'

ऐसे तो बात सीधी, सरल और समझ में आवे वैसी है। यह शरीर खानपान और प्राणवायु के बिना टिक नहीं सकता ऐसे ही क्षात्रधर्म भी संघर्षविहीन सम्भव नहीं है। मुगलों के

समय तक क्षत्रियों ने संघर्षमय जीवन जीया, इसीलिए क्षात्रधर्म जीवित रहा। क्षात्रधर्म का संघर्ष स्वार्थ, सत्ता या संपत्ति के लिए नहीं होता है। किन्तु सत्य-असत्य, नीति-अनीति, न्याय-अन्याय, सदाचार-भ्रष्टाचार, जैसे द्वन्द्वों में, संघर्ष में सत्य, नीति, न्याय और सदाचार के रक्षण, पोषण और वर्धन के लिए असत्य, अनीति, अन्याय, भ्रष्टाचार के नाश के लिए होता है। इसलिए ही साधक कहते हैं-'इस साधना की उत्पत्ति, स्थिति और लय तीनों ही संघर्षमय है।'

मुगल काल के बाद अंग्रेजों के शासन में हम संघर्षहीन बने और इसीलिए क्षात्रधर्म को प्रज्वलित करने के लिए मेरी साधना जैसी जनहित और लोक कल्याणकारी प्रवृति की आवश्यकता पैदा हुई। जिसमें श्री क्षत्रिय युवक संघ 1947 से क्षत्रियों को क्षात्रधर्म का मूल्य समझाकर क्षात्रधर्म पालन के लिए संस्कारमय सामुहिक कर्मप्रणाली द्वारा काम करता है। क्षत्रियों का बड़ा वर्ग उसे सैद्धान्तिक रूप से, वैचारिक रूप से स्वीकार करता है। सिद्धान्त या विचार कार्यान्वित न हों तब तक आदर्श, उच्च सिद्धान्त या विचार का मूल्य नहीं-वत गिना जाता है। सौभाग्य से चाहे कुछ छोटा वर्ग इस सिद्धान्त को, विचार को क्रियान्वित करने के लिए निष्ठापूर्वक, सबल पुरुषार्थ अविरल रूप से कर रहा है। परिणाम आयेगा तब उसको समझा जाएगा। अभी तो जागृति की आशा, श्रद्धा और विश्वास जगाकर उसकी ओर क्षत्रिय समाज को ही नहीं अन्य वर्गों को भी प्रभावित किया जा रहा है।

अवतरण का आधार लेकर हम क्षत्रिय समाज की आज की स्थिति के बारे में सोचें तो क्या हम अपना जीवन संघर्षरत है, ऐसा कह सकते हैं? संघर्ष और क्षात्रधर्म एक दूसरे के पूरक हैं। इसीलिए तो साधक प्रथम वाक्य में ही कहते हैं-'मेरी साधना में संघर्ष उसी प्रकार ओतप्रोत है जिस प्रकार शरीर में प्राण और जीवन में चेतना।' समझ में आता है? मुश्किल है। क्योंकि हम सदियों से, पीढियों से संघर्ष विमुख बन गये हैं। हम भोगवाद में, स्वार्थ में, कायरता में फँस गए हैं। इसीलिए आजादी के बाद संघर्ष न करके हमने राष्ट्र के विकास के लिए हमारे स्वार्थ का, हमारे हित का सम्पत्ति का हँसते मुख से त्याग किया है। कोई तटस्थ इतिहासकार तो इसकी जानकारी लेगा। अपने व्यक्तित्व स्वार्थ या हित के लिए क्षत्रिय संघर्ष नहीं करता। ऐसी विकट परिस्थिति में वह त्याग, बलिदान की राह लेता है।

राष्ट्रहित के लिए स्वार्थ का संपत्ति का बलिदान दिया, त्याग किया यह साबित करने के लिये आज हमें राष्ट्र के हित के लिये, राष्ट्र के रक्षण के लिये अन्याय, भ्रष्टाचार, अराजकता, आतंकवाद और प्रजा के शोषण के विरुद्ध संघर्ष शुरू करना चाहिए।

ऐसे अनिष्टों के विरुद्ध संघर्ष करने की क्षमता और शक्ति आज भी हमारे समाज में है। लेकिन बड़ी कमी यह है कि हमारे पास संचालन शक्ति नहीं है। संघठन नहीं है। आज भी हम जिस ईर्षा के कारण हमारा पतन हुआ उस दोष से मित्रता किए हुए मौज से जी रहे हैं। ईर्षा, द्वेष, अहंकार, कुसंप, अन्य को सुखी देखकर जलना, दूसरों के अवरोध पैदा करने की वृत्ति हमसे दूर होने का नाम नहीं ले रही है। हम इन अनिष्टों के आश्रयदाता बन बैठे हैं। सदियों पुरानी इन निर्बलताओं को झंझेड़कर, फटकार कर क्षात्रधर्म पालन का संकल्प करें तथा जिनकी हम जयंतियाँ मनाते हैं, जिनको श्रद्धांजलि देते हैं, वे राम, कृष्ण, प्रताप, दुर्गादास, शिवाजी, कुं. हरभमजी साहब, पू. मनुभा बापू, भाडवादरबार, पू. तनसिंहजी, पू. आयुवानसिंह जी, पू. नारायणसिंह जी की आत्मा प्रसन्न होगी। वे अंतरिक्ष से हमें संकल्प सिद्ध करने का आशीर्वाद भी देंगे, बल भी देंगे। ऐसा दृढ विश्वास है। हम श्रद्धा विहीन, विश्वास खोकर अविश्वास में, अश्रद्धा में और अज्ञान में जी रहे हैं। इसीलिए हमारे में सत्कर्म की वृति ही पैदा नहीं होती। 'मैं' की जगह 'हम' का जीवन मंत्र अपनाकर, संकल्पबद्ध बनकर राष्ट्रहित के लिए समर्पित होने की तैयारी के साथ निकल पड़ें तो स्वर्ग, मोक्ष, मुक्ति या विश्व मुट्ठी में है। अभाव है विश्वास का, यह विश्वास और श्रद्धा हमारे पूर्वज और परमात्मा जगावें, ऐसी प्रार्थना सभी करें।

अर्क- **जिनके हैं नहीं सिद्धान्त मरना जीना क्या जानें?**

- पू. तनसिंहजी

अवतरण–88

पराजय का भय मेरी साधना का आधार भूत अंग नहीं, क्योंकि अन्तिम और निर्णायक विजय के पूर्व कई प्रकार की असफलताओं से साक्षात्कार करना पड़ेगा, पर महत्त्वपूर्ण वस्तु है एक बार पराजित होने पर फिर द्विगुणित उत्साह से नवीन संघर्ष की तैयारी में जुट जाना। ठोकर खाकर गिर पड़ना स्वाभाविक है, गिरे रहना पतन और पराजय की स्वीकृति और फिर गिरकर पुन: पुन: उठने का प्रयास मंगलमयी विजयश्री का मन, वचन और कर्म से आह्वान!

जय पराजय जगत का क्रम। जय के लिए करना प्रयास, तोड़ेगा निराशा भ्रम।

इस अवतरण के प्रथम वाक्य को समझने के लिए प्रवृत्ति के संस्थापक, जनक और उसके संचालक के जीवन को बारीकी से देखना पड़ेगा। उनको समझना पड़ेगा। डर, यह अविश्वास का पुत्र है। प्रवृत्ति के स्थापक पू. तनसिंहजी ने ईश्वर में अटूट, अडिग और अकल्पनीय श्रद्धा और विश्वास के साथ प्रवृति प्रारम्भ की। इसी विश्वास और श्रद्धा के बल पर आज के संचालक प्रवृत्ति चला रहे हैं। इसीलिए पराजय के डर का कहीं स्थान ही नहीं है। उसका अस्तित्व ही नहीं है।

हाँ, प्रवृत्ति में उतार-चढ़ाव अवश्य आता रहता है। जैसे गत अवतरण में साधक ने कहा कि प्रवृत्ति की मंद गति के लिए मैं क्षोभ अनुभव करता हूँ। यह एक प्रकार की निष्फलता कहेंगे। क्षोभ प्रवृत्ति की मंद गति से ज्यादा जिस जाति का भव्य भूतकाल, अद्‌भुत इतिहास और गौरवशाली परम्परा रही, आज वे बेहोशी में जी रहे हैं; अपनी जाति की हित की प्रवृत्ति की उपेक्षा की जा रही है, उसी का क्षोभ है। अन्यथा प्रवृत्ति की गति में मंद-तीव्र गति का रूप आता रहता है।

प्रवृत्ति के इतिहास में दो प्रसंगों में-पू. तनसिंहजी और पू. नारायणसिंहजी के अवसान के बाद संघ में, समाज में आशंका खड़ी हुई थी। अब क्या होना है? परन्तु आज प्रवृत्ति जिस रीति से जिस गति से चल रही है, उसमें वह आशंका निर्मूल हो गई। साधक के कथन के अनुसार-'एक बार पराजित होने पर फिर द्विगुणित उत्साह से नवीन संघर्ष की तैयारी में जुट जाना।' आशंका कि अब क्या होगा? उसके निर्मूलन के लिए संघ ने दो गुना उत्साह से काम किया। मई 2015 में सौराष्ट्र के बेट द्वारिका में 300 महिलाओं व 425 युवाओं के 11 दिन का आयोजित शिविर उत्साह का अनूठा दृष्टांत है। समाज के अग्रणी लोगों को उस ओर ध्यान देने की ही नहीं, बारीकी से देखकर प्रेरणा लेने की आवश्यकता थी जो न हो सकी। इसके लिये हम सभी कम-ज्यादा उत्तरदायी हैं।

एक वातावरण बनाकर क्षत्रिय समाज ही नहीं समग्र समाजों का ध्यान इस ओर आकर्षित हो, वैसा कार्य स्थल शिविर है। जिस-जिसने शिविर दर्शन किया उस पर अच्छा प्रभाव पड़ा है। यह स्वयं उन्हीं से सुना है जिन्होंने शिविर में उपस्थिति दी। इस अवतरण का वाक्य है-'ठोकर खाकर गिर पड़ना स्वाभाविक है, गिरे रहना पतन और पराजय की स्वीकृति है।' क्षत्रिय समाज के लिये यह खूब महत्त्व का, चिंतन का और सोचनीय मुद्दा है, ऐसा नहीं लगता? अपने पतन के बाद प्रताप, शिवाजी, दुर्गादस जैसे अपवादरूप व्यक्तियों के अलावा हमने कब खड़े होने का प्रयत्न किया, कब पुरुषार्थ किया, यह इतिहास के पन्नों में ढूंढने का विषय नहीं लगता? वर्तमान इतिहास देखने में तो ऐसा ही लगता है कि पुन: खड़े होने, विजयी बनने का कोई प्रयास नजर नहीं आता। हमारे ऊपर अन्याय हुआ, हमारी संपत्ति लूटी, हमें कायर मानकर आगे बढे और हमारा नामोनिशान मिटा देने की योजनाबद्ध प्रवृत्ति चली। उसका प्रतिकार करने की बात तो दूर रही, विरोध का एक शब्द तक उच्चारित नहीं हुआ। ऐसा क्यों हुआ? हम इतने निर्बल, कायर, संघर्षहीन क्यों बन गए? ऐसे अनेकों प्रश्न हमारे सामने मुँह प्रसार कर खड़े हैं। उत्तर कौन दे, हम तो देव-देवियों में, साधु-संतों में श्रद्धा रखकर भक्त बने बैठे हैं।

किसी भोपा-ओझा के आशीर्वाद से, चमत्कार से सब ठीक हो जाएगा, हमको कुछ करने की क्या

आवश्यकता है, चिड़िया बनकर देवी भाले पर आकर बैठ जाएगी और हमारी विजय हो जाएगी,ऐसी धारणाओं में, मान्यताओं में हमारे समाज का बड़ा वर्ग जी रहा है। इस धारणा या मान्यता को श्रद्धा-विश्वास कहें या मूर्खता, अंधविश्वास की पराकाष्ठा कहें यह समझ में नहीं आता। ऐसी भूल भरी मान्यता के कारण ही मेरी साधना की गति मंद है। समाज में निराशाजनक अवांछित अंध श्रद्धा का वातावरण खड़ा करने वाले तथाकथित भक्तों की संख्या विशाल है।

हमारी ऐसी हालत के जिम्मेवार हम ही हैं। किसी अन्य को दोषी मानने की आवश्यकता नहीं। हम धर्म के नाम पर बाबाओं के उपदेशों के कारण धार्मिक अंध श्रद्धा, दूषण, रूढियों, कुरिवाजों और झूंठी मान्यताओं के भोग बने हैं। इन सभी बुराइयों की जड़ है अज्ञान और अविद्या। यह बात हमको स्वार्थी, पेटु-शिक्षण और धर्म के नाम पर पाखण्ड करने वाले चालाक तत्व समझने नहीं देते।

मेरी साधना का उद्देश्य क्षात्रत्व के बोध के साथ समाज में से अज्ञान और अविद्या दूर करके वैचारिक क्रांति लाना है। श्री क्षत्रिय युवक संघ इस बारे में सक्रिय है। युवा पीढ़ी को समाज को हानी पहुँचाने वाले सभी दूषण, रूढियों, कुरिवाजों, व्यसनों, धार्मिक क्षेत्र की अंधश्रद्धा, वैचारिक संकुचितता दूर करके समाज को उसकी सही राह पर चलाने का प्रयास कर रहा है। यह बात समाज के बौद्धिक वर्ग के ध्यान में आई है या नहीं? इस बात का कुछ पता नहीं पर उनके समझ में आई है इसका सबूत देने वाले कोई संकेत जानने को नहीं मिले।

साधक का वाक्य है-'गिरकर पुन: पुन: उठने का प्रयत्न मंगलमयी विजयश्री का मन, वचन और कर्म से आह्वान!' समाज के बड़े हिस्से को इस वाक्य पर गहराई से सोचने की आवश्यकता है। पिछले दो सौ-तीन सौ सालों में क्या हमने ऐसा प्रयास किया है? श्री क्षत्रिय युवक संघ द्वारा यह प्रयास हो रहा है। उसे समझकर, स्वीकार कर, अनुसरण कर, सहभागी बनकर सामाजिक क्रांति यज्ञ में आहुति देकर यज्ञाग्नि को प्रज्वलित करने का पुण्य कमा लें। है स्वीकार?

क्षात्रधर्म की क्षात्रत्व की बात करें तब बड़े पैमाने पर प्रतिभाव होता है कि आज कहाँ लड़ने के लिए जाना है या युद्ध करना है? उन लोगों की दृष्टि में क्षात्रधर्म यानी घोड़े पर सवार होकर तलवार, भाला, बख्तर से सज्ज होकर युद्ध के मैदान में लड़ने जाना, यह चित्र मानस में जमा बैठा है। आज भी युद्ध तो हो रहा है। लड़ाईयाँ लड़ी जा रही हैं। लोकतंत्र में अलग प्रकार के युद्ध, लड़ाई और अस्त्र होते हैं। लोकतंत्र में परोपकार, जनसेवा यह घोड़ा है। तीक्ष्ण, तीव्र और सूक्ष्म बुद्धि यह तलवार है। सामने वाले के दिल को रौंद दे, मर्म को भेद दे, ऐसी वेदनाभरी वाणी यह भाला है। संयमरूप सदाचार का बख्तर है।

युद्ध के मैदान में उतरने से पहले उपरोक्त शस्त्र हाथों में होने चाहिए। जनसेवा, लोकसेवा, परोपकार रूप घोड़े पर बैठकर तलवार की धार जैसी तीक्ष्ण, तीव्र और सूक्ष्म बुद्धि रूपी तलवार चाहिए। सामने वालों के दिल को भेद दे ऐसी प्रभावी और मर्मभेदी वाणी रूप भाला चाहिए। सेवा, संयम और सत्संग का बख्तर पहना हो तो विजय निश्चित है, सरलता से चरण चूमेगी।

'निकम्मी संगत छोड़कर उतरें मैदान में रखने रजपूती वट' गिरने के बाद उठने के लिए बारम्बार प्रयास करने की परमात्मा हमको शक्ति दे।

अर्क- क्षत्रियत्व मरा नहीं है, सो गया है, उसे जगावें।

(क्रमश:)

अनेक जन्मों के बाद इस परम पुरुषार्थ के साधन रूप मनुष्य शरीर की जो अनित्य होने पर भी अत्यन्त दुर्लभ है, पाकर बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि वह शीघ्र से शीघ्र मृत्यु आने से पहले ही अपने कल्याण के लिये प्रयत्न कर ले। विषयभोग तो सभी योनियों में प्राप्त हो सकते हैं, इसलिए उनके संग्रह में इस अमूल्य जीवन को नहीं खोना चाहिए। **- श्रीमद्‌भागवत से**

जालोर के सोनगरा चौहान

– अचलेश्वर 'आनन्द'

पश्चिमी राजस्थान में स्थित जिला मुख्यालय जालोर प्राचीनकाल में महर्षि जाबालि के नाम पर जाबालिपुर के नाम से विख्यात अति प्राचीन नगर है जो स्वर्णगिरी अथवा कंचनगिरी के नाम से पुराणों में विख्यात रमणीक पर्वत की तलहटी में बसा है–मध्यकाल में यह जालन्धर के नाम से भी प्रसिद्ध हुआ जो नाम संभवत: योगी जालन्धर नाथ के नाम पर पड़ा। चौहान कालीन शिलालेखों में इस नगर का नाम जाबालिपुर दिया गया है। यद्यपि प्रकारान्तर में पंडित पद्मनाभ द्वारा रचित कान्हड़दे प्रबंध में इसे 'जाल्हुर' के नाम से संबोधित किया गया है जो कालान्तर में अपभ्रंश होकर जालोर हो गया।

वैसे तो यह वाल्मीकि रामायण तथा रामचरित मानस के संकेत साक्ष्यों के अनुसार दक्षिणसागर के उत्तरी दिशा में स्थित द्रुमकुल्य नामक समुद्री भाग था जो लंका विजय हेतु प्रस्थित रामादल को मार्ग न देने पर श्रीराम के द्वारा संधान किये गये अग्निबाण से जलकर मरु कान्तार में परिवर्तित होने के बाद बसे प्राचीन सभ्यताओं की संस्कृतियों को अपने में समाहित करने वाला नगर है। समय की परतों के नीचे दबकर पूर्व इतिहास के कई सत्य एवं तथ्य विलुप्त हो जाते हैं और कुछ शिलालेखों, ताम्रपत्रों, देवमूर्तियों, देवालयों तथा अक्षरबद्ध साक्ष्यों के ख्यात, भाटों की बहियों, काव्यात्मक स्वरूपों में इतिहासकारों एवं पुरातत्त्वविदों के मार्गदर्शन हेतु उपलब्ध रहते हैं।

प्रतिहार एवं परमार वंश के शासन पश्चात विक्रम संवत् 1238 अर्थात् 1181 ईस्वी में नाडोल के चौहान शासक आल्हण के कनिष्ठ पुत्र कीर्तिपाल ने जालोर पर अपना अधिकार कर लिया। कीर्तिपाल जालोर शाखा के चौहान वंश का संस्थापक था। मूथा नैणसी ने कीर्तिपाल को बड़ा राजपूत कहकर संगोधित किया है। नैणसी द्वारा किसी भी शासक को दी गई यह सबसे बड़ी उपाधि है।

स्वर्णगिरी का अपभ्रंश सोनगिरी पर निर्मित किले से शासन व्यवस्था चलाने के कारण इसी पर्वत के नाम पर चौहानों की जालोर शाखा सोनगरा चौहानों के नाम से विख्यात हुई। सोनगरा चौहानों का शासनकाल जालोर के इतिहास का स्वर्णयुग है।

कीर्तिपाल ने चाँदी के सिक्के चलाये जिसमें घुड़सवार तथा वृषभ अंकित थे। वह अपने युग का महान सेनानायक था–जिसकी विजयों ने उसे तथा उसके वंश को भारत के इतिहास में अमर कर दिया।

कीर्तिपाल का पुत्र समरसिंह अपने पिता का उत्तराधिकारी हुआ। सुन्धा अभिलेख के अनुसार समरसिंह भवन निर्माण का शौकीन था उसने प्रतिहार नरेश नागभट्ट द्वारा निर्मित स्वर्गगिरी दुर्ग में कई तरह के निर्माण करवाये जिसमें सुदृढ प्राचीर, (कोष्ठागार), शस्त्रागर, विविध प्रकार के यंत्र, सुरक्षा साधन तथा मंदिर आदि शामिल थे। समरसिंह का वि.सं. 1262 के पूर्व देहान्त हो गया था।

तत्पश्चात् समरसिंह का पुत्र उदयसिंह उत्तराधिकारी हुआ। उदयसिंह का शासनकाल विक्रम संवत् 1262 से विक्रम संवत 1314 तक अर्थात् 52 वर्ष तक माना जाता है–वह अपने समय का महानशासक योद्धा एवं विजेता था। उसने अल्तमश जैसे शक्तिशाली आक्रान्ता को तीन-तीन बार शिकस्त देकर राजपूत जाति का गौरव बढाया।

उदयसिंह के बाद उसका पुत्र चाचिगदेव जालोर का राजा हुआ। चाचिगदेव की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र सामन्तसिंह जालोर राज्य का उत्तराधिकारी बना। विक्रम संवत् 1353 (1296 ईस्वी) में उन्होंने अपने पुत्र कान्हड़देव को जालोर राज्य के शासन में अपना भागीदार बनाया। 1353 इस्वी में दिल्ली सल्तनत का सर्वाधिक शक्तिशाली शासक अलाउद्दीन खिलजी गद्दी पर बैठा जिसने अपने सलाहकार अलाउल्मुल्क की सलाह पर भारत के समस्त हिन्दू राज्यों को नष्ट करने का संकल्प किया। दिल्ली सल्तनत की परिस्थितियों को देखकर ही सामन्तसिंह ने अपने नौजवान बेटे कान्हड़देव को शासन कार्य चलाने

का अवसर दिया ताकि नौजवान राजकुमार दृढता और शक्ति के साथ राज्य की रक्षा कर सके।

कान्हड़देव के शासन संभालने के दो वर्ष बाद अर्थात्- 1298 ईस्वी में अलाउद्दीन खिलजी ने गुजरात जीतने और सोमनाथ महालय को नष्ट करने का निर्णय लिया। दिल्ली से सोमनाथ जानेका सीधा मार्ग जालोर से ही गुजरता था। खिलजी ने बहुत से उपहार आदि देकर अपने दूत को भेजा और प्रार्थना की कि कान्हड़देव शाही सेना को अपने राज्य से होकर जाने दे। कान्हड़देव ने बादशाह का प्रस्ताव यह कहते हुए अस्वीकार कर दिया कि ब्राह्मण विरोधी, गौओं की हत्यारी, स्त्रियों व जनता को बन्दी बनाने वाली अत्याचारी शाही सेना से उसे कोई सहानुभूति नहीं अत: धर्म के विरुद्ध शाही सेना को उसके राज्य में से होकर नहीं जाने दिया जाएगा।

शाही सेना का नेतृत्व उस समय उलूग खाँ और नुसरतखाँ कर रहे थे। उन्होंने उस समय राजपूतों से उलझना ठीक नहीं समझा और मेवाड़ के दुरुह मार्ग से गुजरात चले गये। रास्ते में पड़ने वाले प्रत्येक राज्य, ठिकाणे को नष्ट करती हुई शाही सेना गुजरात पहुँची। शीघ्र ही सारा गुजरात और काठियावाड़ जीतकर विख्यात सोमनाथ का मंदिर ध्वस्त किया।

गुजरात से दिल्ली लौटते हुए उलूगखाँ ने कान्हड़देव को दण्डित करने का निर्णय लिया। हर जगह प्राप्त हुई विजयों के बाद उसने मेवाड़ के मार्ग से जाने की जरूरत नहीं समझी तथा जालोर राज्य की सीमा में घुस गया। कान्हड़देव ने उसकी चुनौती को स्वीकार किया। अपनी कूटनीति से कान्हड़देव ने शाही सेना व उसमें शामिल नव मुसलमानों के बीच लूट के माल का बंटवारा को लेकर असंतोष और विद्रोह की स्थिति को भाँप लिया-उनके नेता मोहम्मद शाह और मीर कामरू जो पच्चीस हजार सवार के स्वामी थे, उन्हें अपने पक्ष में कर लिया।

दो दिन पश्चात जैता देवड़ा के नेतृत्व में राजपूतों ने शाही सेना पर आक्रमण कर दिया-जिसमें नुसरत खाँ का भाई मलिक अजिउद्दीन तथा अलाउद्दीन का भतीजा मारे गये। उलूग खाँ किसी तरह बचकर भाग गया।

यह संघर्ष जालोर दुर्ग से 18 मील दूर सराणा गाँव में हुआ-जहाँ साक्ष्यरूप में सोमनाथ महादेव का मंदिर अब भी बना हुआ है। सोमनाथ के बिम्ब को मुस्लिम सेना से मुक्त कराने के पश्चात ही कान्हड़दे की सेना ने अपनी रक्तरंजित शस्त्र संपदा को धोया था। तथा शाही सेना द्वारा गुजरात व काठियावाड़ से बंदी बनाकर लाये गये लक्षाधिक स्त्री-पुरुषों को कैद से छुड़ाया था।

इस युद्ध के बाद नव मुसलमानों के नेता मोहम्मद शाह और मीरकामरू अपने बचे हुए सवारों के साथ राणा हम्मीर के शरणागत होकर रणथंभौर रहने चले गये। जिसके कारण लगभग 5 वर्षों तक खिलजी रणथंभौर व चित्तौड़ से उलझा रहा।

1305 ईस्वी में खिलजी ने पुन: जालोर पर आक्रमण किया। इस समय तक सामंतसिंह की मृत्यु हो चुकी थी। खिलजी का सेनापति एनालुलमुल्क जो बड़ा लड़ाकू चालबाज और चतुर सेनापति था वह कान्हड़देव को संधि हेतु समझा-बुझाकर दिल्ली ले गया।

ठीक शिवाजी की परिस्थिति में सम्मानपूर्वक शान्ति स्थापित करने के लिये कान्हड़देव दिल्ली गया किन्तु शिवाजी की ही भाँति उसने शीघ्र ही अनुभव कर लिया कि सम्मान पूर्वक शान्ति स्थापित करना असम्भव था-वह तुरन्त जालोर लौट आया तथा युद्ध की तैयारी करने लगा। तब तक कान्हड़देव के पुत्र वीरमदेव अपनी महान् वंश परम्परा के अनुसार राजनीति, कूटनीति, सामरिक नीति तथा युद्ध कौशल में पारंगत होकर शासन व्यवस्था में अपने पिता का सहयोग करने लगे थे। कान्हड़देव ने भी अपने पिता के चरणचिन्हों पर चलते हुए समय की नजाकत को समझकर अपने युवा पुत्र को शासन व्यवस्था में अपना भागीदार बना लिया था। वीरमदेव ने अपने बुद्धिकौशल, व्यवहार तथा जन संपर्क से राज्य की प्रजा का दिल जीत लिया था। वे अत्यन्त सुन्दर, मितभाषी तथा तेजस्वी थे।

बादशाह अलाउद्दीन की सेवा में पंजू नामक एक पायक (मल्ल) रहता था किसी कारण वह बादशाह की सेवा छोड़कर महारावल कान्हड़देव की सेना में चला गया,

वहाँ उसने कुँवर वीरमदेव को बिन्नोट की विद्या सिखाई। कुछ समय बाद पंजू पुन: बादशाह की सेवा में चला गया। वहाँ ऐसा कोई मल्ल नहीं था जो पंजू को परास्त कर सके। एक दिन बादशाह ने पंजू को पूछा कि ऐसा कोई पायक है जो तुम्हें परास्त कर सके। पंजू ने निवेदन किया कि पृथ्वी पर कई ऐसे होंगे मुझे मालूम नहीं है पर जालोर राज्य का राजकुंवर वीरमदेव जो मुझसे ही यह विद्या सीखा है वह मेरी बराबरी कर सकता है।

बादशाह ने बड़े वचन देकर दूत के साथ पत्र लिखकर भेजा कि एक बार राजकुमार वीरमदेव को मेरे पास भेज दो। कान्हड़देव ने अपने भाई-बन्धुओं से परामर्श कर वीरमदेव को दिल्ली भेज दिया। कुँवर वीरमदेव की तेजस्विता एवं राजपूती आन-बान एवं शान वाली सुन्दरता देखकर बादशाह बहुत प्रसन्न हुआ।

पांच दस दिन व्यतीत होने पर बादशाह ने कुंवर वीरमदेव से अनुरोध किया कि एक बार तुम और पंजू खेलो, हम देखना चाहते हैं। वीरमदेव ने कहा-यह हमारा काम नहीं है फिर भी आप देखना ही चाहते हो तो हम एकान्त में दिखाएँगे। बादशाह ने अपने महल में एकान्त में स्थान तैयार करवाया। अंत:पुर की औरतें भी चिकों की ओट में देखने आई। बादशाह खेल देख खुश हुआ।

पंजू से मल्ल विद्या सीखने के बाद कुंवर वीरमदेव ने कर्नाटक के पायकों से भी इस विद्या का नया दांव सीखा था जिसमें पैर के अंगूठे से उस्तरा बाँध कर उलटी गुलांच खाई जाती है जिसकी चोट प्रतिबद्वंद्वी के ललाट पर पहुँचती थी। सबसे अंत में वीरमदेव ने अत्यन्त कुशलता से यह दाँव खेला और पंजू के ललाट पर उस्तरे की हल्की चोट मारी। वीरमदेव इस दांव के कारण विजयी रहे। बादशाह और बेगमें बड़े खुश हुए। बादशाह की युवा पुत्री शाहजादी पीरोजा जो सिताई के नाम से भी जानी जाती है वह वीरमदेव पर आसक्त हो गई तथा वह प्रतिज्ञा कर अन्न-जल परित्याग कर सो गई। हरम की स्त्रियों के कारण पूछने पर कहा-या तो कुंअर वीरमदेव के साथ विवह करूं नहीं तो अन्न-जल नये दांत आने के बाद ग्रहण करूं। माँ-बाप के बहुत समझाने पर भी अपने हठ पर कायम रही। पुत्री की प्राणरक्षा के लिये बादशाह ने उसकी बात मान ली और वीरमदेव के पास विवाह का प्रस्ताव भेजा। वीरमदेव द्वारा अनेक आपत्तियाँ प्रकट की गई किन्तु बादशाह नहीं माना।

वीरमदेव ने एक दाँव खेला और बादशाह से निवेदन किया कि ठीक है लग्न दिखाकर मुझे विदा कर दो-मैं जालोर जाकर पूरी तैयारी के साथ लग्न तिथि पर बारात लेकर आऊँगा। बादशाह को वीरम की बात पर संदेह हुआ इसलिये उसने वीरमदेव के साथ आये बनवीर के पुत्र राण को जमानती के तौर पर अपने पास रोक लिया।

जालोर पहुँचकर वीरमदेव ने सारा वृत्तान्त अपने पिता कान्हड़देव को बताया। कान्हड़देव ने सोचा कि बात बिगड़ गई तब कामदारों को बुलाकर किलेबन्दी कर सारा सामान तैयार करवाया। काफी प्रतीक्षा करने के बाद भी वीरमदेव के दिल्ली न आने पर बादशाह ने अपने सेवक जालोर भेजे। वे महारावल कान्हड़देव तथा वीरमदेव से मिले। सारी स्थिति देख समझकर दिल्ली लौटे तथा बादशाह को बताया कि वीरमदेव दिल्ली नहीं आएगा। गढ में लड़ाई का सामान सजाया जा रहा है। बादशाह ने अत्यन्त कुपित होकर कोतवाल तोगा को आदेश दिया कि राण को बेड़ी पहिना दे। कोतवाल जब राण को बेड़ी पहनाने पहुँचा तब राण ने उसका काम तमाम कर दिया तथा सुरक्षित जालोर लौट आया।

बादशाह ने मुजफ्फर खाँ और दाऊद खाँ के नेतृत्व में पाँच लाख सैनिक भेजे, उन्होंने वहाँ पहुँचकर दुर्ग घेरना शुरू किया। प्रतिदिन धावे होने लगे। कहते हैं बारह वर्ष तक विग्रह रहा।

बादशाह ने अपनी एक सैन्य टुकड़ी मलिक कमालुद्दीन गुर्ग के नेतृत्व में सिवाणा दुर्ग पर आक्रमण करने भेजी। सिवाना दुर्ग का अधिपति सातलदेव चौहान जालोर नरेश कान्हड़देव का भतीजा था। उसने शाही सेना का वीरतपूर्वक मुकाबला किया तथा म्लेच्छों द्वारा पेयजल के एकमात्र स्रोत को दूषित कर दिये जाने के बाद अपने राजपूत सैनिकों के साथ केसरिया कर आत्मोत्सर्ग कर लिया। स्त्रियों ने भी अग्निस्नान कर लिया।

सिवाना विजय के बाद अलाउद्दीन के आदेश पर मुस्लिक सेना मारवाड़ का नाश करने लगी। कान्हड़देव के आह्वान पर 35 कुलों के राजपूत वीर जालोर पहुँचे जिन्हें आदेश दिया कि जहाँ भी शत्रु सेना मिले नष्ट कर दी जाए।

राजपूतों द्वारा मलिक नायाब के नेतृत्व वाली मुस्लिम सैन्य टुकड़ी पर खुडाला के पास हल्ला कर अधिकांश सैनिकों को मार डाला बाकी बचे सैनिक प्राण बचाने हेतु भाग गये।

इसके बाद मुस्लिम सेना ने जालोर को घेर लिया। सात रात्रि तक कुंअर वीरमदेव तथा उनके चाचा मालदेव के नेतृत्व में सफलतापूर्वक धावे मारे गये जिसमें बारह सौ तुर्क मारे गये। आठवें दिन बड़ा भारी अंधड़ और जंगल में आग लग गई। इस प्रकार राजपूतों के सतत् धावों एवं प्राकृतिक आपदाओं के कारण बादशाही सेना को पलायन कर दिल्ली भागना पड़ा।

सुल्तान अलाउद्दीन ने गोल्हण भाट को संदेशवाहक बनाकर जालोर भेजा। सुल्तान ने उसके जरिये कहलवाया कि वीरमदेव उससे आकर मिले-वह विवाह की बात नहीं करेगा और मित्रता करके गुजरात उसे सौंप देगा किन्तु कान्हड़देव ने इसके प्रस्ताव को ठुकरा दिया।

मेड़ता के निकट मोकलाणा गाँव में कान्हड़देव के सैनिकों ने मुस्लिम सेना की टुकड़ी पर आठ दिशाओं से हमला किया। यह हमला क्रमशः वीरमदेव, मालदेव तथा अन्य सामन्तों की आठ टुकड़ियों ने किया। इस हमले में तीन हजार शत्रु सैनिक मार डाले गये। नौ हजार घोड़े राजपूतों के हाथ लगे। उनका नेता शम्सखां अपनी पत्नी जो कि खिलजी की पुत्री थी, के सहित जीवित पकड़ लिया गया और शेष शत्रु सैनिक जान बचाकर भाग गये। अपनी सेना की सफलता पर प्रसन्न होकर कान्हड़देव मालदेव-वीरमदेव तथा सामंतों के स्वागत के लिये मांडही पहुँचे। शम्सखां को ऊदलपुर में रखा गया तथा राजदेव के नेतृत्व में एक हजार सैनिक पहरे पर बिठा दिये गये।

अलाउद्दीन की दूसरी लड़की शाहजादी पीरोजा (सिताई) अपनी बहिन तथा बहनोई शम्सखां को छुड़ाने जालोर आई। कान्हड़दे ने वीरमदेव को बीजड़ भाट के साथ अगवानी के लिये भेजा तथा स्वयं कान्हड़देव अपने वीर सामंतों के साथ सुन्दरला तालाब पहुँचे। शाहजादी की अनेक अनुनय विनय के बाद भी वीरमदेव ने शाहजादी का मुख देखने तक से इन्कार कर दिया।

शहजादी की प्रार्थना पर उसे दुर्ग व नगर दिखाने के बाद सोमनाथ शिवबिंब छुड़ाने के समय तुर्कों से छीने गये हाथी तथा गिरफ्तार किये गये मलिक शहजादी को सौंप दिये।

मुस्लिम सेना को रोकने के लिये कान्हड़देव ने अपनी दो सेनाएँ भेजी एक मालदेव के तथा दूसरी वीरमदेव के नेतृत्व में। मालदेव की सेना षटूकड़ी वाड़ी तथा वीरमदेव की सेना भाद्राजून नाके पर तैनात की गई। इस बार मुस्लिम सेना का नेतृत्व अनुभवी सेनापति कमालुद्दीन गुर्ग कर रहा था जो धीमी गति से सुरक्षा का पूरा बन्दोबस्त करते हुए आगे बढता जा रहा था। वह राजपूत सेना की युद्ध प्रणाली को समझ चुका था और उससे निबटने की पूरी तैयारी कर चुका था। मुस्लिम सेना को भारी क्षति उठानी पड़ी किन्तु राजपूतों ने भी काफी हानि उठायी।

कान्हड़देव ने मालदेव तथा वीरमदेव दोनों को वापिस बुलाया। वीरमदेव को किले में ही तैनात कर दिया जबकि मालदेव को खिलजी सेना के अवरोध के लिये आगे भेजा। इस बीच कमालुद्दीन ने दुर्ग पर घेरा डाल दिया। लगातार के युद्धों से किले पर भोजन पानी की निरंतर कमी होती गई। कमालुद्दीन के घेरा डालने के कुछ ही दिन बाद जब पानी थोड़ा रह गया तब सौभाग्य से भारी वर्षा हुई और पानी की पर्याप्त मात्रा किले में उपलब्ध हो गई।

कमालुद्दीन ने किले का घेरा मजबूत कर लिया किसी तरह की सहायता बाहर से पहुँचना बंद कर दी। ऐसी स्थिति में किले के महाजनों ने कान्हड़देव को धन धान्य की प्रचुर सहायता की, जिससे सैन्य गतिविधियों का संचालन निर्बाध गति से किया जा सके।

कान्हड़दे के सामंत कान्हा उलीचा के नेतृत्व में दस हजार राजपूत सैनिकों ने ऊदलपुर की चौकी पर धावा मारा। धावे में मलिक निजामुद्दीन सहित खिलजी के सभी सैनिक मारे गये। मलिक का हरम तथा घोड़े कुछेक

(शेष पृष्ठ 32 पर)

गतांक से आगे

छोड़ो चिन्ता-दुश्चिन्ता को

– स्वामी जगदात्मानन्द

काटो नहीं, फुफकारो :

एक बच्चे के हाथों से उसका खिलौना छीनने का प्रयास करो- वह अपनी नाराजगी व्यक्त करेगा। क्रोध तथा नाराजगी हमारे स्वभाव में बिंधी हुई है। क्रोध एक सहज प्रतिक्रिया है। जब कोई वस्तु या घटना हमारी नाराजगी या असंतोष के भाव को भड़का देती है, तो हम क्रोधित हो जाते हैं। इस संसार में सब कुछ हमारी इच्छा के अनुसार नहीं हो सकता। अत: अपनी इच्छाओं का नियमन तथा अहंकार को घटाना ही बुद्धिमता है, क्योंकि इसी से हमें अपने क्रोध को नियंत्रित करने में मदद मिलती है। कुछ लोगों में तो क्रोध आदत का रूप धारण कर लेता है। वे हर चीज पर-यहाँ तक कि जब कौवा काँव काँव करता है, या जब वे स्वयं अपनी चीजें नहीं ढूंढ पाते, या थोड़ा शोरगुल होने पर, या चाय में थोड़ी चीनी कम हो जाने पर ही चिड़चिड़ा उठते हैं। 'क्रोध में वह शेर बन जाता है'- ऐसी बातें सुनकर उनका सीना गर्व से फूल उठता है।

क्रोध तुम्हारे शारीरिक तथा मानसिक सन्तुलन को बिगाड़ देता है। क्रोध तुम्हें अपने आसपास के लोगों के साथ शत्रुता का मार्ग दिखाता है। तुम्हारा स्वभावगत चिड़चिड़ापन दूसरों के मन में तुम्हारे प्रति घृणा का मूल कारण बन जाता है। लोग तुम्हारी अनुपस्थिति में तुम्हारी खिल्ली उड़ाते हैं। तुम सबकी सहानुभूति खो बैठते हो। तुम दूसरों के लिए कष्ट और असुविधा के कारण बन जाते हो।

क्रोध के सम्बन्ध में तेरहवीं सदी के महान दक्षिण भारतीय सुधारक सन्त बसवेश्वर के इन शब्दों को याद रखो, 'जैसे घर में लगी हुई आग पहले घर को ही जलाती है, वैसे ही क्रोध की अग्नि पहले क्रुद्ध व्यक्ति को ही जलाती है और तब अन्य लोगों को हानि पहुँचाती है।'

परन्तु क्या हम पूरी तौर से क्रोधहीन हो सकते हैं? एक बार एक भक्त ने भगवान श्रीरामकृष्ण से पूछा, 'महाराज, यदि दुष्ट लोग हमें हानि पहुँचाने में तत्पर हो जाएँ, तो भी क्या हमें कुछ प्रतिक्रिया न करके निष्क्रिय रहना चाहिए?' श्रीरामकृष्ण ने कहा,-'संसार में रहते हुए दुष्टों का सामना करने के लिये थोड़ी-बहुत कठोरता भी आवश्यक है, परन्तु किसी के प्रति बदला लेने के भाव से कुछ नहीं करना चाहिए।'

क्रोध दिखाए बिना इस संसार में रह पाना कठिन है। समाज में दुष्ट लोग भी हैं, उनके साथ कैसा व्यवहार किया जाए? श्रीरामकृष्ण ने सलाह दी कि दुष्टों के प्रति थोड़ा क्रोध दिखाना आवश्यक है, परन्तु उन्हें घृणा करना हानिकारक है। इस बात को समझाने के लिये उन्होंने एक कथा सुनायी-

'चरवाहों के कुछ बच्चे एक चरागाह में अपनी गायें चराया करते थे। वहीं एक विषधर सर्प भी रहता था। सर्प के डर से सभी लोग सजग रहते थे। एक दिन एक ब्रह्मचारी उस रास्ते से गुजर रहे थे। बच्चे दौड़कर उनके पास गए और बोले, ''महाराज, उधर से मत जाइए, वहाँ एक विषधर सर्प रहता है।'' ब्रह्मचारी ने कहा, ''बेटा, मुझे उसका क्या डर है? मैं साँप का मंत्र जानता हूँ।'' ऐसा कहते हुए वे चरागाह में उसी ओर बढ़ते गए। ब्रह्मचारी जी को देखकर वह साँप फन फैलाकर तेजी से उनकी ओर आने लगा। साँप जब पास आ गया, तो उन्होंने मंत्रोच्चारण किया और साँप केंचुए के समान उनके चरणों में लौटने लगा। ब्रह्मचारी बोले, ''सुन लोगों को काटकर तू उन्हें इतना कष्ट क्यों देता है? ले, मैं तुझे मंत्र देता हूँ। इसे जपेगा तो ईश्वर पर भक्ति होगी। तुझे ईश्वर के दर्शन होंगे, फिर यह हिंसावृत्ति न रह जाएगी।'' यह कहकर ब्रह्मचारी जी ने साँप को मंत्र दिया। मंत्र पाकर साँप ने गुरु को प्रणाम किया और पूछा, ''प्रभो, मैं क्या साधना करूँ?'' गुरु ने कहा, ''इस मंत्र का जप कर और हिंसा छोड़ दे।'' चलते समय ब्रह्मचारी जी फिर आने का वचन दे गए।

'इस प्रकार कुछ दिन बीत गए। चरवाहे बालकों ने

देखा कि साँप अब काटता नहीं। वह ढेले मारने पर भी गुस्सा नहीं होता और एक केंचुए की तरह हो गया है। एक दिन चरवाहों ने उसके पास जाकर पूँछ पकड़कर उसे घुमाया और वहीं पटक दिया। साँप के मुँह से खून बह चला, वह बेहोश पड़ा रहा, हिल-डुल तक न सकता था। चरवाहों ने सोचा कि साँप मर गया और वे वहाँ से चले गए।

'काफी रात हो जाने पर साँप होश में आया और धीरे-धीरे अपने बिल के भीतर गया। वह बुरी तरह घायल हो गया था। उसमें हिलने तक की शक्ति नहीं रह गयी थी। बहुत दिनों के बाद, जब उसकी पीड़ा थोड़ी कम हुई, वह भोजन की खोज में बाहर निकला। मारे जाने के बाद से वह केवल रात को ही बाहर निकलता था। हिंसा तो वह करता ही न था; सिर्फ घास-फूस, फल-फूल खाकर ही रह जाता था।

'लगभग साल भर बाद ब्रह्मचारी जी फिर आए। आते ही ये साँप की खोज करने लगे। चरवाहों ने कहा, ''वह तो मर गया।''पर ब्रह्मचारी को इस पर विश्वास न हुआ। वे जानते थे कि जो मंत्र वे दे गए थे, उसके सिद्ध हुए बिना साँप की देह छूट नहीं सकती थी। इधर-उधर ढूंढ़ते हुए वे अपने दिए हुए नाम से उसे पुकारने लगे। गुरुदेव की आवाज सुनकर साँप बिल से बाहर निकल आया और बड़े भक्ति-भाव से उन्हें प्रणाम किया। ब्रह्मचारी जी ने पूछा, ''क्यों, कैसा है?'' उसने कहा-''जी! अच्छा हूँ।'' ब्रह्मचारी जी ने पूछा, ''तो तू इतना दुबला क्यों हो गया?'' साँप ने कहा, ''महाराज, जब से आप आज्ञा दे गए, तब से मैं हिंसा नहीं करता; फल-फूल, घास-पात खाकर पेट भर लेता हूँ, शायद इसीलिए दुबला हो गया हूँ।'' सत्त्वगुण बढ़ जाने के कारण वह किसी पर क्रोध न कर सकता था, इसीलिए चरवाहों द्वारा मारे जाने की बात भी भूल गया था।

''ब्रह्मचारी जी ने कहा, ''सिर्फ न खाने से ही किसी की ऐसी दशा नहीं होती, कोई दूसरा कारण अवश्य होगा, तू अच्छी तरह सोच तो।'' अब साँप को चरवाहों की मार याद आयी। वह बोला, ''हाँ महाराज, अब याद आया, एक दिन चरवाहों ने मुझे पटक-पटककर मारा था। उन अज्ञानियों को तो मेरे मन की अवस्था मालूम नहीं थी। वे क्या जानें कि मैंने हिंसा करना छोड़ दिया है!'' ब्रह्मचारी जी बोले, ''राम, राम, तू ऐसा मूर्ख है? अपनी रक्षा करना भी नहीं जानता? मैंने तो तुझे काटने से ही मना किया था न, फुफकारने से तुझे कब रोका था? फुफकार मारकर उन्हें भय क्यों नहीं दिखाया?''

इस प्रकार आवश्यकतानुसार दुष्टों पर फुफकारना चाहिए, भय दिखाना चाहिए, ताकि वे कहीं हमारा अनिष्ट न कर बैठें, परन्तु उनका अनिष्ट नहीं करना चाहिए।

यमराज के मन में दया नहीं है :

पन्द्रह साल का एक सुन्दर और बुद्धिमान बालक था। वह कुसंग से सर्वथा दूर रहा। पढ़ाई में वह कभी पीछे नहीं रहा। वह अपने माता-पिता का इकलौता तथा परम आज्ञाकारी पुत्र था। उसके सद्गुणों के कारण उसके मित्र भी उसे सम्मान की दृष्टि से देखते थे। एक दिन वह अपने मित्रों के साथ कहीं बाहर गया। यात्रा के दौरान ही दल के नेता को सहसा ख्याल आया कि वह बालक कहीं दिख नहीं रहा है। उसकी खोज होने लगी। किसी को याद आया कि वह नदी में तैरने गया था और वहाँ से वापस नहीं लौटा। काफी तलाश करने के बाद उस बालक का शव ही मिल सका। उसके माता-पिता को सूचना दी गयी। पिता पर तो मानो वज्रपात ही हो गया। पुत्र का स्मरण करते हुए वे दुःख से अभिभूत हो गए। माता शान्त दिख रही थी। ऐसा लगा कि वे मौन-भाव से दुःख को स्वीकार रही हैं। अपने पुत्र को यात्रा पर ले जाने वाले लोगों को उन्होंने कोसा भी नहीं। इसके लिये उन्होंने किसी को दोषी भी नहीं माना। यहाँ तक कि वे अपने पति को ही सांत्वना देने लगीं। आत्मसंयम के साथ उन्होंने रिश्तेदारों को फोन किया, पुलिस को सूचित किया, अपने पति के कार्यालय में भी सूचना भेजी और साथ ही उन्होंने पुत्र के शव को शवदाह-गृह ले जाने का प्रबन्ध भी किया। जब लाश चिता पर रखी जाने लगी, केवल तभी वे दुःख सहने में असमर्थ होकर विलाप करने लगीं।

एक अन्य युवक इंजीनियरिंग का छात्र था। वह सर्वदा व्यंग-विनोद के द्वारा लोगों का मनोरंजन किया करता था। उसकी बचकाना हरकतों पर डाँटते हुए उसकी माँ ने पूछा, 'तुम इतना हँसते क्यों हो? तुम्हें क्या हो गया है?' उसने मुस्कराते हुए उत्तर दिया, 'कल्पना करो कि मैं कल ही मर जाऊँ और यमराज यदि मुझसे पूछें कि मैंने पृथ्वी पर क्या किया, तो कम-से-कम मैं इतना तो कह सकूंगा कि मैंने लोगों को हँसाया।' अगले ही दिन वह बड़े विचित्र ढंग से शहर में साइकिल चलाते समय तेज गति से आती हुई एक ट्रक से कुचलकर मारा गया। यमराज के दूत किसी के प्रति भी दया नहीं दिखाते। कष्ट देना ही उनका खेल है।

त्रिवेन्द्रम विश्वविद्यालय में मलयालम भाषा के एक प्राध्यापक थे। वे संस्कृत के भी अच्छे जानकार थे। परन्तु वे ईश्वर में विश्वास नहीं करते थे। विवाह के कई वर्षो बाद उन्हें एक पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। उनका वह पुत्र छह वर्ष की आयु में ही बीमार पड़ गया। अन्तिम साँस लेने के पूर्व उसने माँ से अपने पिता को पास बुलाने के लिये कहा। पिता के पास आने पर बालक ने तेज स्वर में एक प्रार्थना का पाठ किया, और उसके बाद काल-कवलित हो गया। पिता तो स्तब्ध रह गए; उन्हें बड़ा धक्का लगा। यह घटना उनके जीवन में युगान्तकारी साबित हुई। मृत्यु ने उन्हें एक पाठ पढ़ा दिया। वे ईश्वर में विश्वास करने लगे।

मृत्यु बिना किसी चेतावनी के चोट करती है। उस क्षण-विशेष में मनुष्य स्वयं को बिल्कुल असहाय महसूस करता है। जब पलक झपकते ही जीवन की सभी आशाएँ ध्वस्त हो जाती हैं, तो वज्र-कठोर हृदय भी काँप उठता है। आज का जीवित व्यक्ति ही कल राख में परिणत हो जाता है। इससे सर्वाधिक साहसी हृदय भी टूट जाता है। प्रियजन भी उस मृत देह को ऐसे त्याग देते हैं मानो वह काष्ठ या पत्थर का हो।

दु:ख और मृत्यु :

यह मृत्यु है क्या? क्या यह एक भयंकर घटना नहीं है?

उत्तर में हमारे ऋषिगण 'हाँ' भी कहते हैं और 'नहीं' भी।

वे अपनी आध्यात्मिक अनुभूति के आधार पर बताते हैं कि अज्ञानी लोगों के लिये मृत्यु भयंकर है, पर ज्ञानियों के लिए नहीं। मृत्यु जीवन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना है। परन्तु बड़ी विचित्र बात यह है कि बुद्धिमान और शिक्षित लोग भी इसके बारे में नहीं सोचते। मृत्यु के बारे में हमारा ज्ञान अत्यन्त अल्प और सीमित है। इसके बावजूद हम बुद्धिमता और प्रबुद्ध होने का दावा करते हैं।

मृत्यु तथा परलोक के रहस्य को सुलझाने का दावा करने वाले पुरोहित तथा धार्मिक लोग कहते हैं, 'अपने चढ़ावों तथा उपहारों के द्वारा स्वर्ग में अपनी जगह सुरक्षित करा लो और भविष्य के बारे में आश्वस्त हो जाओ।' पर वे इस गूढ़ विषय पर चिन्तन-मनन करने में लोगों को प्रोत्साहित नहीं करते।

मनुष्य अपने चारों ओर लोगों को काल-कवलित होते तथा सगे-सम्बन्धियों को यह धराधाम छोड़कर जाते हुए देखकर स्तब्ध रह जाता है। क्षण भर के लिए उसे शोक भी होता है। इसके बाद वह शायद स्वयं को सांत्वना देते हुए कहता है, 'आगे या पीछे, सबको एक-न-एक दिन तो मरना ही होगा।' परन्तु 'मृत्यु क्या है? और उसके परे क्या है?' - यह प्रश्न वह स्वयं से पूछने में प्राय: कतराया करता है। निकट के सम्बन्धियों की मृत्यु हो जाने पर वह सचमुच ही स्तब्ध रह जाता है। इस मृत्यु के फलस्वरूप वह तीव्र व्यथा का अनुभव करता है। और इस वियोगजनित असहायता तथा निराशा का अनुभव करते हुए आँसुओं की झड़ी लगा देता है। वह फिर से अपनी दिनचर्या में डूब जाता है। और जब उसकी अपनी मृत्यु सिर पर आती है, तो वह अतीव पीड़ा तथा भय के साथ बिना किसी तैयारी के ही चल देता है। अधिकांश लोग कीड़े-मकोड़ों की भाँति मर जाते हैं। वैसे कुछ लोग कहते हैं, 'मृत्यु एक प्राकृतिक घटना है, अत: उसके आने पर हमें उसका सामना करना चाहिए।' मृत्यु के बारे में हमारे दृष्टिकोण का सारांश बताते हुए कुबलर रॉस कहते हैं,

'यह एक ऐसा विषय है जिससे हमारा यौन-पूजक तथा विकास-प्रेरित समाज कन्नी काटता रहता है।' कभी-कभी कोई खास मौत हमें मृत्यु के स्वरूप की एक झलक दिखा देती है। वह व्यक्ति को अपरिहार्य का सामना करने का साहस भी प्रदान कर सकती है। ये घटनाएँ तथा अनुभव हममें साहस का भाव जाग्रत करने में सहायक होते हैं। परन्तु व्यक्ति जब तक मृत्यु के तत्त्व को नहीं समझता, तब तक भयभीत ही बना रहता है।

एक दम्पत्ति के एक सात वर्ष का पुत्र था। थोड़े ही दिनों की बीमारी से उसका जीवन-दीप बुझ गया। उस शोक से राहत पाने के निमित्त वे लोग दक्षिण भारत की ओर चले गए। वहाँ आजीविका के लिए उन्होंने कोई काम ढूंढ लिया। परन्तु माँ अपने दिवंगत पुत्र को भुला नहीं सकी। वह सोचती, 'मेरे पुत्र को भगवान ने आखिर क्यों छीन लिया?' वह अपने पुत्र के शोक से अतिशय अभिभूत थी। उसकी मन:स्थिति ऐसी थी कि सांत्वना का उस पर कोई प्रभाव न होता और तर्क-वितर्क का तो कोई सवाल ही नहीं था। एक युवा पुत्र को खोने वाला व्यक्ति यह कहकर स्वयं को दिलासा दे सकता है, 'केवल मैंने ही तो अपना पुत्र नहीं खोया है।' वस्तुतः यह मृत्यु के साथ एक व्यावहारिक सामंजस्य तथा अपरिहार्य के साथ समझौता कर लेना है। केवल मृत्यु के सच्चे स्वरूप को समझ लेने वाला व्यक्ति ही ऐसी परिस्थितियों में शान्त तथा साहसी बना रह सकता है।

दु:ख के विषय में हमारी प्रतिक्रिया :

कठिनाइयाँ आने पर हर व्यक्ति की प्रतिक्रिया समान नहीं होती। कुछ लोग साहस तथा शान्त चित्त से दु:खों को सहते हुए जीवन का सामना करते हैं। किसी प्रियजन का बिछोह आदि कुछ घटनाएँ तथा परिस्थितियाँ हैं जो हर व्यक्ति के जीवन में अपिरहार्य रूप से आती हैं।

पति या पत्नी में से किसी एक का देहान्त हो जाने पर बचे हुए जीवन-साथी के लिए बीमारी या मृत्यु की सम्भावना दस फीसदी बढ़ जाती है। एक साथ रहने वाले दम्पत्ति की अपेक्षा तलाकशुदा पतियों या पत्नियों में बीमारियाँ बारह गुना अधिक पायी जाती हैं। दुरवस्था, असहायता तथा निराशा से पीड़ितों की शारीरिक बीमारियों में अस्सी प्रतिशत तक की वृद्धि हो जाती है। उनकी पीड़ा सहने की शक्ति भी बहुत कम हो जाती है।

दु:ख और कष्ट प्रत्येक मनुष्य के जीवन का अपरिहार्य अंग है। परन्तु कुछ ऐसे भी लोग होते हैं, जो समुचित दृष्टिकोण, प्रार्थना और सत्संग की सहायता से ऐसी स्थितियों का सफलतापूर्वक सामना करके शरीर तथा मन पर पड़ने वाले उसके दुष्प्रभावों को कम करने में समर्थ होते हैं।

तथापि ऐसी संकटपूर्ण स्थितियों का सामना होने पर हममें से अधिकांश लोगों का मानसिक सन्तुलन बिगड़ जाता है। तब दुर्बलमना लोग तात्कालिक रूप से अपने दु:ख को भुलाने हेतु सुरा या मादक द्रव्यों का सहारा लेते हैं। वस्तुतः इससे वे और अधिक दुर्बल बन जाते हैं। आत्महत्या करने वाले लोग उससे भी अधिक दुर्बल होते हैं। इनमें से कोई भी उपाय हमें भय, क्रोध या चिन्ता से मुक्त नहीं कर सकता। तो फिर, क्रोध, भय तथा चिन्ता के इस पाश से निकलने का क्या उपाय है?

अटल, अपरिहार्य :

हर व्यक्ति के जीवन में कुछ अपरिहार्य घटनाएँ होती हैं। कुछ घटनाएँ प्रत्याशित और कुछ बिल्कुल ही अप्रत्याशित होती हैं। हममें से अधिकांश लोग अटल तथा अपरिहार्य घटनाओं का सामना करना और उनके साथ तालमेल बैठाना नहीं जानते।

मनुष्य को नि:सन्देह आशावादी होना चाहिए। उसे दुर्भाग्य की आशंका से अवसादग्रस्त होने की कतई जरूरत नहीं है। पर जीवन में सब कुछ परिवर्तन या विनाश के भय से रहित, सुचारू रूप से चलता रहेगा-ऐसा विश्वास क्या एक भ्रामक विचार मात्र नहीं होगा? केवल कल्पना-जगत में ही ऐसी पूर्ण निरापद अवस्था का अस्तित्व हो सकता है।

प्राय: युवावस्था में ही, जब शरीर सबल तथा आत्मविश्वास प्रबल रहता है, व्यक्ति हवाई किले बनाता है

और पूर्णता के सपने देखता है। पर क्रमशः विफलता, आत्मसंशय तथा दूसरों से प्रतिरोध का सामना होने पर असहायता तथा अभाव-बोध के कारण उसके पाँवों के नीचे की धरती खिसकने लगती है। इन समस्याओं में पड़कर व्यक्ति न तो सम्यक् चिन्तन कर पाता है, न दूसरों से सलाह ले पाता है और न ही चिन्ताओं से राहत प्राप्त कर पाता है। इसलिए अपरिहार्य स्थितियों का सामना करने हेतु मन की समुचित तैयारी आवश्यक है।

आकाश सहसा काले मेघों से आच्छन्न हो सकता है और क्षण भर में ही गरज-तरज के साथ भारी वर्षा हो सकती है। क्या हम वर्षा को रोक सकते हैं? भीगने से बचने हेतु हमें अपने सिर पर छत की और बाहर जाने पर छाते की व्यवस्था करनी होगी। वन-पथ पर विचरण करते समय हम उसे कंकड़ों तथा कँटीली झाड़ियों से पूर्णतया मुक्त नहीं कर सकते, अतः पैरों में काँटों की चुभन से बचने के लिए हमें जूते पहनने होंगे। हम जीवन की कठिनाइयों, विफलताओं, अभावों, दुर्भाग्यों तथा पतनों को नापसन्द कर सकते हैं, परन्तु हम उनसे बच नहीं सकते। उनका सामना करने के लिए हमें समुचित ढंग से प्रशिक्षित होने की जरूरत है। हमें समस्या के मूल तक जाना होगा। सर्वोपरि हमें अपने मन पर नियंत्रण पाने और समस्याओं का शान्त भाव से तथा साहसपूर्वक डटकर मुकाबला करने हेतु जीवन के नियमों और सिद्धान्तों को भी समझ लेना होगा।

अपने मन को शान्त रखने के इच्छुक लोगों को सावधानी के साथ अनावश्यक समस्याओं से बचना चाहिए। अटल व अपरिहार्य समस्याओं का सामना करते समय अंगुत्तर-निकाय में उल्लिखित भगवान बुद्ध के निम्नलिखित वचन बड़े सहायक हैं-

'प्रिय भिक्षुओ! गृहस्थों, भिक्षुओं तथा नर-नारी सभी को अधोलिखित पाँच बातें सदा-सर्वदा स्मरण रखनी चाहिए-

1. वृद्धावस्था अपरिहार्य है, अटल है, इससे बचा नहीं जा सकता।

2. कभी-कभी हम बीमार भी पड़ जाते हैं। यथासाध्य प्रयास करके भी हम इससे पूरी तौर से मुक्त नहीं हो सकते।

3. मनुष्य को एक-न-एक दिन अवश्य मरना होगा; इससे बचा नहीं जा सकता। कोई व्यक्ति बड़े सहज भाव से दूसरों को परामर्श दे सकता है- ''चिन्ता की क्या बात? मृत्यु के आने पर देख लिया जाएगा।'' परन्तु इस शिक्षा का पालन करना आसान नहीं है।

4. हमारी सभी प्रिय चीजों में परिवर्तन, ह्रास, नाश तथा वियोग अवश्यम्भावी है। हम इससे बच नहीं सकते।

5. हमारे विचार तथा भाव ही हमारे जीवन को आकार देते हैं। हमें अपने भले-बुरे कर्मों का फल अवश्य चखना होगा।'

प्रिय भिक्षुओ :

वृद्धावस्था का चिन्तन करने से युवावस्था का दर्प भले ही पूर्णतया नष्ट न हो, परन्तु कुछ कम तो अवश्य हो जाएगा। इसी तरह, बीमारी और रोगजन्य असहायता का चिन्तन करने से हमारे स्वास्थ्य का गर्व चला जाता है, मृत्यु का चिन्तन और अनुशीलन करने से जीवन के प्रति आसक्ति चली जाती है और अपनी प्रिय चीजों में परिवर्तन तथा उनसे होने वाले वियोग पर चिन्तन करने से हमारा लोभ चला जाता है।

जब मैं अनुभव करने लगता हूँ कि अपनी वर्तमान अवस्था के लिए मैं ही उत्तरदायी हूँ तथा मैं ही अपना भाग्य-निर्माता हूँ, तो बुरे विचार तथा कर्म की प्रवृत्तियाँ घट जाती हैं।

इन पाँचों बातों का चिन्तन करते-करते मनुष्य का अहंकार चला जाता है। वह लोभ व दुष्प्रवृत्तियों से मुक्त होकर अध्यात्म-पथ पर आगे बढ़ने में समर्थ हो जाता है। तब, वह अटल व अपरिहार्य का सामना करने हेतु मनोबल प्राप्त कर लेता है।

(क्रमशः)

जिन्दगी साँचों में ढलती

– स्व. सूरतसिंह कालवा

सिद्धान्त सूर्य की तरह है, जब तक मानवीय जीवन के विभिन्न ग्रह इसके चारों ओर चक्कर लगाते हैं उसकी प्रेरणा के अनुरूप अपने को संचालित करते हैं तभी तक उनका अस्तित्व है, सिद्धान्त से विलग हुए कि अस्तित्व समाप्त हुआ।

सिद्धान्त! सारे सिद्धान्त बनते हैं चेतना के जगत में इसलिए चेतना को सर्वोपरि मूल्य और प्राथमिकता मिलनी चाहिए, यह तर्क संगत है। दुनिया में ऐसा एक भी तर्क नहीं है जिसका विरोधी तर्क न हो। जो अकाट्य होता है वह तर्क नहीं हो सकता। अकाट्य तो मात्र अनुभव होता है, तर्क कभी अकाट्य नहीं हो सकता। अनुभव का सम्बन्ध चेतना से है, उसके साथ शाश्वत सत्य का पक्ष है। तर्क के साथ शाश्वत सत्य का पक्ष नहीं है।

किन्तु सर्वांगीण दृष्टिकोण से देखने पर लगेगा कि यह बात तर्क संगत होते हुए भी त्रुटिपूर्ण है। चेतना के पास वाणी नहीं होती, वह मूक होती है। चेतना अपने तक सीमित है, उसका विस्तार नहीं हो सकता। दुनिया का सारा विस्तार वाणी के ही माध्यम से हुआ है। संघ का विस्तार भी वाणी से और वाणी के साथ व्यवहार से हुआ है। यदि भाषा न हो, शब्द न हो तो विस्तार की बात ही नहीं हो सकती–दुनिया सिमट जाती है–संघ सिमट जाता है फिर कोरा व्यक्ति बचेगा, समाज नहीं बनेगा, सम्बन्ध नहीं बनेगा और संगठन–लोक संग्रह भी नहीं होगा।

मन की, वाणी की, शरीर की एक सीमा है। हमारे सारे आचरण व्यवहार इन सीमाओं में चलते हैं। अत: पहला स्थान मन का है। कोई बात मन में आए संयम करो, उसे मन तक सीमित रखो, यह सीख गए तो अनेक समस्याओं का समाधान स्वत: हो गया। व्यक्ति और समाज की यही सीमा है। आचरण जब मन की सीमा तक होता है वह सदा वैयक्तिक होता है वह व्यक्तिगत सीमा है। मन से बाहर जहाँ आचरण और व्यवहार हुआ वहाँ व्यक्ति की सीमा समाप्त और वही समाज का आदि बिन्दु बन जाता है। समाज का आरम्भ वचन से होता है। वाणी एक ऐसी शक्ति है जो एक ओर मन का प्रतिनिधित्व करती है और शरीर को उछालती है। प्रेम और फसाद वाणी के द्वारा ही होते हैं। किसी को अपना बनाना, किसी को विरोधी या शत्रु बनाना सब काम वाणी ही करती है। सारा इतिहास वाणी पर आधारित है, वाणी के साथ तीन शक्तियाँ काम करती हैं– 1. वाणी की अपनी शक्ति, 2. भावना की शक्ति, 3. भावना के साथ पैदा होने वाली तरंग की शक्ति।

सबकी पृष्ठभूमि में रहती है भावना की शक्ति। वाणी का भावना से बहुत गहरा सम्बन्ध है। वाणी जिस भावना से निकलती है वैसा ही कार्य होने लग जाता है और फिर वैसी ही तरंग पैदा होने लग जाती है। भावना है सूक्ष्मवाणी, भावना हमारी सूक्ष्म भाषा है। वाणी की एक शक्ति भावना है तो दूसरी शक्ति है उच्चारण। उच्चारण के आधार पर ही समूचे मंत्र शास्त्र का विकास हुआ है। तरंग का सिद्धान्त भी इसी के साथ जुड़ता है। हमारी सारी दुनिया तरंग की दुनिया है। यहाँ जो कुछ हो रहा है वह सब तरंगों के ही द्वारा हो रहा है–चिन्तन की तरंग, भाषा की तरंग, शरीर से निकलने वाली तरंग, अनेक प्रकार की तरंगें हैं। सभी कुछ तरंगमय है, तरंगातीत कुछ भी नहीं है। सारी राजनीति कूटनीति के आधार पर चल रही है, कूटनीति का आधार है असत्य। समाज के छोटे–बड़े सब व्यवहार असत्य के आधार पर चल रहे हैं। झूठ बोलने वाला बच जाता है, सिर चढ़ जाता है, सच बोलने वाला मारा जाता है, उपेक्षित हो जाता है।

आध्यात्म की यात्रा मूल्य प्रस्थापना से आरम्भ होती है–मूल्यों के विवेक से आरम्भ होती है। जब सम्यक् दृष्टि जागती है तब मूल्यों का विवेक भी जागता है कि किसको कितना महत्त्व देना चाहिए। आचार्य वह होता है जो इस बात का निर्णय करता है कि किसको कितना मूल्य देना

चाहिए। जिसमें यह विवेक नहीं उसे खुशामदी और चापलूस किस्म के लोग भरमाते रहते हैं। सबसे बड़ी बात तो है-मूल्यों का विवेक, आध्यात्म से सम्यक दृष्टि जागती है। शब्द ज्ञान से कार्य की सिद्धि नहीं होती, अनुभव ज्ञान अलौकिक होता है। शब्द ज्ञान से अन्त:करण का अंधेरा नहीं मिटता, दीपक की बात करने से अन्धकार नहीं मिटता। विश्वास और श्रद्धा की चर्चा करने से विश्वास और श्रद्धा नहीं फलते।

आँख देखती हैं बोलती नहीं है।
वाणी बोलती है, देखती नहीं है।।

व्यवहार का प्रश्न बड़ा जटिल है। एक समाधान कि सबसे पहले विचार का आग्रह छोड़ो, इसके साथ यह भी कि सह-अस्तित्व का बोध, यह बोध जितना प्रखर होगा वैचारिक आग्रह छूटता जाएगा। राग द्वेष की घुड़दौड़ इतनी आकर्षक है कि उसे देखते-देखते जीवन बीत रहा है, इसके साथ आकर्षण जुड़ा हुआ है तो सहिष्णुता की बात आगे कैसे बढे? जहाँ राग द्वेष है, वहाँ सत्य के लिये अवकाश कहाँ? सहिष्णुता नाम की भी एक चीज होती है, सहिष्णुता के सूत्र हैं :-

1. सम्यक् दृष्टिकोण, 2. साहसिकता (एक साथ बैठना), 3. एक दूसरे को समझने का प्रयास।

समस्या तो है, समस्या को सुलझाने के लिये एक जाजम पर एक साथ बैठना जरूरी होता है। समझ की दूरी व्यक्तियों में (हमारे बीच) दूरियाँ पैदा करती है। पारस्परिक समझ दूरी मिटा देती है, व्यवस्था भंग करने वाली सहिष्णुता टूट जाती है। वह दूसरों की सहिष्णुता में भी बाधक है। सहिष्णुता मानसिक शान्ति का दर्शन है। सहिष्णुता की भूमिकाएँ हैं :-

1. परिस्थितियों को झेलना, 2. दूसरे व्यक्ति (साथी) को सहन करना, 3. अपने से भिन्न विचारों को सुनना और सहन करना, 4. राग द्वेष की तरंगों का सामना करना, उनसे हार न मानना।

यह वीतराग की ओर जाने का मार्ग है। अनेक परिस्थितियाँ सभी के जीवन में आती हैं। ऐसे में स्वस्थ मन समंज्जन (Adjustment) कर लेता है। Adjustment करना अर्थात् नई परिस्थितियों के साथ सामञ्जस्य स्थापित कर लेना। मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति का यही लक्षण है। कोई वरिष्ठ साथी-सहयोगी बात करे, चर्चा, परामर्श करे, अपने सुझाव दे तो स्वस्थ व्यक्ति सहर्ष चर्चा करता है। प्रेमपूर्ण व्यवहार से आदमी से अधिक काम लिया जा सकता है। परन्तु मानवीय दृष्टिकोण और कुछ सीमा तक हमारा भी दृष्टिकोण अभी इतना विकसित नहीं हुआ जितना होना चाहिए पर हम स्वीकारेंगे नहीं। सामाजिक, स्वास्थ्य का सूत्र तो है-करुणा-प्रेम। उपेक्षा नहीं, आलोचना नहीं, तोहफे नहीं, डंडे नहीं।

मानसिक स्वास्थ्य के विकास के साथ व्यक्ति में कुछ परिवर्तन होते हैं। ये परिवर्तन मानसिक स्वास्थ्य के लक्षण बन जाते हैं। ये लक्षण हैं :-

1. **आत्म निरीक्षण** की मनोवृत्ति का विकास।

2. **व्रत अर्थात् सीमा-** (a) आहार की सीमा, (b) व्यवहार की सीमा, (c) बात करने की सीमा अर्थात् अनावश्यक न बोलकर केवल तथ्य से परिचित होना।

3. **दायित्व बोध।**

4. **कर्तव्य बोध-** यह चेतना का सबसे शक्तिशाली रूप है, चेतना तो पीछे रहती है, सामने तो क्रिया ही आती है। चेतना और क्रिया को अलग नहीं किया जा सकता।

5. **सन्तोष-** अपने मुख्य काम में संतोष। संतोष हो, तो आत्मविश्वास भी दृढ हो, तो भाव भी पवित्र बने रहते हैं। भावों की पवित्रता के साथ संवेग की पहचान और स्वभाव की पहचान आवश्यक है। स्वभाव का निर्माण संवेगों के आधार पर होता है।

भय भी एक संवेग है। हीन भावना या उत्कर्ष की भावना भी संवेग है, घृणा की भावना भी संवेग है और काम भावना भी संवेग है। ये सारे संवेग हैं जो व्यक्ति जिस प्रकार के संवेग में जीता है, उसका वैसा ही स्वभाव बन जाता है। सजगता, जागरूकता, सतर्कता जीवन की सफलता के बड़े सूत्र हैं। सही अर्थों में तो हम संवेग को

जानते ही नहीं हैं। जो जानते भी हैं वे सजग सतर्क नहीं हैं तो समझ भी नहीं पाते।

अन्तर्द्वन्द्व भावनात्मक स्वास्थ्य को बिगाड़ता है, करने के बाद सोचते हैं कि ऐसा नहीं करना चाहिए था। इस प्रकार हम अन्तर्द्वन्द्व में फँस जाते हैं, मानसिक संघर्षों में उलझ जाते हैं, स्वभाव बदल जाता है। सामाजिक भूमिका में इस बदले हुए स्वभाव को सामाजिक लोग स्वीकार नहीं करते। स्वभाव बदलते ही व्यक्ति भी बदल जाता है। भावनात्मक स्वास्थ्य के इच्छुक व्यक्ति को आध्यात्म में प्रवेश पाने का अधिकार प्राप्त करना ही होगा। अपनी भाषा, अपना तरीका, अपना मिजाज, अपना रवैया और अपना व्यवहार, उसी के अनुरूप बनाना होगा।

साधक के सामने प्रतिकूल और अनुकूल दोनों प्रकार की बाधाएँ आती हैं, जिसने एकाग्रता की शक्ति का विकास कर लिया है वह अनुकूल बाधाओं को सह लेता है। प्रतिकूल बाधाओं का सहना आसान है, अनुकूल बाधाओं को सहना कठिन है। नैतिक होने के लिये आध्यात्मिक होना जरूरी है, आध्यात्मिक होने का अर्थ है- अपने भीतर प्रवेश। क्षण-क्षण में होने वाली इच्छाओं को जानना, इच्छाओं के प्रति सजग रहना। इच्छाएँ जानकर ही नैतिक हुआ जा सकता है। आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में परीक्षण, निदान और उपाय (चिकित्सा) जरूरी है। इस क्षेत्र में होने वाली बीमारियों के स्रोत हैं :-

1. मिथ्या दृष्टिकोण :- मिथ्या दृष्टिकोण अविरति व प्रमाद के साथ जुड़कर अशुभ बन जाते हैं। प्रकृति से शुभ अशुभ नहीं होते, शुभ अशुभ बन जाते हैं। अनेक बीमारियाँ तो मिथ्या (गलत) दृष्टिकोण से ही पनपती है। तत्त्व के विषय में हमारी दृष्टि सापेक्ष हो गई, परन्तु जीवन व्यवहार के प्रति मिथ्या दृष्टिकोण है तो मिथ्या धारणाएँ हमें बीमार बना देंगी।

2. अविरति :- एक इच्छा आकाँक्षा अनेक रूप ले लेती है। वस्तु के प्रति लालसा, भोजन के प्रति लालसा, व्यक्ति के प्रति लालसा वाला व्यक्ति रागचरित व्यक्ति कहलाता है। दूसरा द्वेष चरित व्यक्ति होता है जो झंझट खड़े करता रहता है, झगड़े करना, निन्दा करना, चुगली करना, स्वयं को सही और दूसरों को गलत मानकर उनकी गलतियाँ गिनाना, आलोचना करना आदि यही मिथ्या दृष्टिकोण है।

अविरति- आकाँक्षा, पदार्थ के प्रति, वस्तु के प्रति व्यक्ति के प्रति आकाँक्षा यह निरंतर व्यक्त होती रहती है। इसका निदान है-**आत्म निरीक्षण।** अपने भीतर उठने वाली रागात्मक या रागजनित प्रवृति का पता लगाकर उसका निदान बहुत कठिन है। निदान के उपकरण यांत्रिक नहीं चारित्रिक होते हैं। मन में संकोच, एक आवरण होता है जिससे व्यक्ति अपनी समस्या प्रकट नहीं कर पाता। आध्यात्मिक क्षेत्र में जीने वाले लोगों के साथ एक आवरण होता है, वे पर्दा चाहते हैं, ढकना चाहते हैं, बताना नहीं चाहते।

वीतराग बनने के बाद चेतना अनावृत होती है, उघड़ जाती है, फिर पर्दे की जरूरत नहीं होती, जो ढकना नहीं चाहता (जानता) वही धार्मिक है, जो ढके रखना चाहता है, पर्दा चाहता है, वह मायाचारी है। हम सब परखें अपने आपको।

3. प्रमाद :- आध्यात्मिक क्षेत्र में बीमारी का तीसरा कारण होता है प्रमाद। आलस्य, अकर्मण्यता, प्रमाद। इनके निदान का साधन है-आत्मलोचन अथवा आत्मपरीक्षण, आत्म निरीक्षण, आस्था और दृढ संकल्प।

हम जिस संकल्प को लेकर चलते हैं वह संकल्प जब पुष्ट होता है तभी रास्ता खुलता है। जीवन प्रतिद्वन्द्वी इच्छाओं का रंगमंच है। सद्इच्छाएँ जागती हैं तभी हमारी नैतिकता और आध्यात्मिकता की ओर बढने का संकल्प लेता है। किन्तु प्रतिद्वन्द्वी इच्छाओं का जब प्रहार होता है तब टिकने वाले ही टिक पाते हैं।

महर्षि पतंजलि कहते हैं - चित्त में जो वृत्तियाँ पैदा होती हैं, जो तरंगें पैदा होती हैं उनके निरोध करने का नाम-**योग है।**

❑

धर्म-निरपेक्षता

– गिरधारी सिंह डोभाड़ा

धर्म बड़ा रहस्यमय और बड़ा गूढ़ विषय है। इस शब्द को हम कहीं पुस्तकों में भी पढ़ते हैं तो अनेक लोगों के मुँह से भी सुनते रहते हैं। किसी सत्संग में, किसी न किसी संत या साधु की वाणी में तो किसी न किसी राजनेता के भाषण में बड़ा जोर देकर धर्म शब्द का प्रयोग किया जाता है। महाभारत का युद्ध जहाँ हुआ था, उस क्षेत्र को धर्मक्षेत्र कहा गया है। महान् धर्म ग्रन्थ गीता की शुरुआत ही उसके प्रथम श्लोक 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सव:' से होती है। जहाँ भयंकर नरसंहार हुआ हो उस क्षेत्र को भी धर्मक्षेत्र कहा गया है। पूजा-पाठ करना, भक्ति करना, तप करना, प्राणीमात्र पर दया करना, इसे मनुष्य का धर्म बताया है तो युद्ध में प्रतिपक्ष के सैनिकों को मारना भी सैनिक का धर्म बताया जाता है। गीता में तो भगवान श्रीकृष्ण ने युद्ध विमुख होते हुए अर्जुन को उसके मोह जनित भाव से निकाल कर युद्ध में प्रवृत किया है। युद्ध में तो संहार ही होता है, उसमें प्रवृत किया है। भगवान गौतम बुद्ध और तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी अहिंसा को ही परम धर्म बताते हैं। वे दोनों ही जन्म से तो क्षत्रिय ही थे। भगवान श्रीकृष्ण भी तो क्षत्रिय थे जो क्षत्रिय के लिये युद्ध करना उसका स्वधर्म बताते हैं। अर्जुन युद्ध करना नहीं चाहता था फिर भी उसे युद्ध के लिए प्रेरित करने के लिए श्रीकृष्ण ने उपदेश दिया कि तू क्षत्रिय है और क्षत्रिय का स्वधर्म है कि आवश्यकतानुसार युद्ध करे। जो स्वयं भगवान श्रीकृष्ण के द्वारा उपदेश दिया गया वह विश्व का महान धर्म ग्रन्थ 'श्री मद्‌भगवद्‌गीता' के रूप में हमें मिला। भगवान के स्वयं तीन रूप बुद्ध, महावीर और श्रीकृष्ण में से दो युद्ध न करने को धर्म बताते हैं और श्रीकृष्ण युद्ध को धर्म बताते हैं। कैसा रहस्यमय है यह धर्म का रूप।

धर्म 'धृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ है धारण करना। क्या धारण करना? जो अच्छाइयाँ हैं उनको धारण करना है। हम अपने शरीर पर वस्त्र, आभूषण वगैरह धारण करते हैं। लेकिन कैसे होते हैं वे? जो-जो अच्छे होते हैं, जो शरीर की रक्षा करते हैं उन्हीं वस्त्र इत्यादि को धारण करते हैं। जो बुरी लगे, जो शरीर को नुकसान पहुँचाए, उनको हम शरीर पर धारण नहीं करते। इसी प्रकार 'धृ' अर्थात् धारण करना है तो धर्म क्या है? जो अच्छा है उसे धारण करना है। सत्य, न्याय, नीति, ज्ञान, प्रकाश, दया, करुणा, दान, क्षमा, धैर्य, निष्ठा, कर्तव्य इत्यादि जो जो अच्छाइयाँ हैं उन्हें अपने जीवन में ढालना है। अपने जीवन में उन्हें आचरण में, व्यवहार में लाना है। यही हमारा धर्म है, यही हमारा कर्तव्य है। इसी राह से हमें ईश्वर प्राप्ति की ओर जाना है। ईश्वर प्राप्ति ही हर एक मनुष्य व प्राणीमात्र का उद्देश्य है और उनके लिए किया गया कर्म ही धर्म है।

आधुनिक युग विज्ञान और टैक्नोलॉजी का माना जाता है। विज्ञान और टैक्नोलॉजी ने मनुष्य को हवा में उड़ाने भरा दी हैं। हजारों मीलों के सफर अब कुछ ही घण्टों में होने लगे हैं। हजारों मील दूर होने वाली घटनाएँ घर पर बैठकर ही प्रत्यक्ष देखी व सुनी जा सकती हैं। दुनिया के दूर-दूर के देश यातायात के नये साधनों से अब मानो नजदीक आ गए हों, ऐसा प्रतीत होता है। दुनिया अब छोटी हुई मालूम होती है। उत्पादन के नये साधनों और व्यापार के विशाल क्षेत्रों ने मनुष्य और देशों को अधिक समृद्ध बना दिया है। अपनी समृद्धि को देखकर मानव व देश अब यह सोचने लगे हैं कि हमने यह समृद्धि और सुख साधन हमारे बुद्धिबल और विभिन्न तरीकों को आजमा कर ही प्राप्त किए हैं। इसमें नीति, धर्म, न्याय या सत्य का कोई सहयोग नहीं है। इस विचारधारा ने संसार में दो अर्थ-व्यवस्थाओं को जन्म दिया है-पूंजीवाद और साम्यवाद। बीच का एक वाद है-समाजवाद। प्राचीनकाल में सभी राज्य व्यवस्थाएँ धर्मावलम्बी थी। उस समय की

शासन व्यवस्था के सर्वोच्च पद पर आसीन व्यक्ति राजा था और किसी कार्य में अन्तिम निर्णय उसी के द्वारा लिया जाता था पर वह स्वच्छंदी नहीं होता था। धर्मावलम्बी व्यक्तियों से सलाह-मशवरे के बाद ही वह वही निर्णय लेता था। जो सर्व सम्मतिपूर्ण होता था। वे जो धर्मावलम्बी लोग होते थे वे न्याय, नीति, सत्य, ज्ञान आदि में निपुण होते थे। तभी भारत सोने की चिड़िया बन पाया था। राजा, प्रजा और सलाहकार सभी धर्म भीरु थे। धर्म के अनुसार कार्य करने का मतलब मंदिर, मस्जिद, चर्च, गिरजाघर में जाकर निर्णय लेना या कार्य करना नहीं होता था बल्कि सत्य, न्याय, नीति, दया, प्रेम, करुणा, ज्ञान इत्यादि सद्‌गुणों के अनुसार राजा व प्रजा अपने-अपने कर्तव्यों का निर्वहन करते थे। उसी को धर्म कहा जाता है। इसी कारण, राज्य में, परिवार में, समाज में समृद्धि व सुख-शान्ति की प्रवृत्ति रहती थी। धर्म-सदाचार खुश तो प्रजा खुश और प्रजा खुश तो धर्म खुश। धर्म कोई दृश्यमान चीज नहीं है, सदाचार ही धर्म है। सदाचार अनुभव की चीज है और इसलिए धर्म भी अनुभव का तत्व है। धर्म आचरण का क्षेत्र है।

आधुनिक युग के लोग अपने को ज्यादा पढे-लिखे, शिक्षित और ज्ञानवान मानने लगे हैं। डार्विन के उत्क्रान्ति के सिद्धान्त के अनुसार वर्तमान मनुष्य का पूर्वज वानर था, जिसने काल बीतते अपनी उत्क्रान्ति करते मानव रूप धारण किया। इसी विचारधारा को आज पूरी दुनिया में पढाया जाता है। मैंने यू-ट्यूब पर एक डाक्टर का भाषण अपने गोंड समाज की सभा में यह कहते सुना कि ये देवी-देवता कुछ नहीं हैं, केवल मिट्टी और पत्थर के पुतले ही हैं। हमारी उत्पत्ति केवल नर-मादा के संयोग से ही हुई है। किसी की कृपा से नहीं हुई है। धर्म नाम की कोई चीज नहीं है। विज्ञान और उत्क्रान्ति वाद के सिद्धान्त में मानने वाले लोगों ने पुरानी शासन व्यवस्था बदलकर प्रजातंत्र की व्यवस्था अपनायी है। वे अब धर्म निरपेक्षता में मानने लगे हैं कि हमारी सुख-समृद्धि का निर्माण हम स्वयं ही कर सकते हैं। हम हमारे जन-बहुमत के सहारे ही हमारा भौतिक विकास कर सकते हैं। हमारा भौतिक विकास ही हमारे जीवन का एकमात्र लक्ष्य है जिससे हमें सुख-समृद्धि प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार से विचार रखने वाले लोग धर्म-विमुख हो रहे हैं और ऐसी विचारधारा के लोगों ने धर्म निरपेक्षता में विश्वास करके अपने देश को धर्म निरपेक्ष बताया है। संसार के देश अपने को धर्म निरपेक्ष साबित करने में अपने को गौरवशाली मानने लगे हैं। इन लोगों की धर्म के बारे में मान्यता है कि मंदिर, मस्जिद, चर्च आदि में जाकर दीप-धूप करना, हाथ जोड़ना, नमाज पढना इत्यादि क्रियाएँ करना ही धर्म है। किसी देवी-देवता के नाम से प्रसाद चढाना, पशु-पक्षी की बलि चढाना ही धर्म है। इस धर्म के नाम पर दंगे-फसाद होते रहते हैं, जिससे देश में, समाज में अराजकता फैलती है। इस अराजकता, लूटपाट, बलात्कार आदि अनिष्टों से बचने के लिये राष्ट्रों को चाहिए कि अपने आपको धर्म निरपेक्ष जाहिर करें। यह उनकी गलत मान्यता है। धर्म निरपेक्ष होने से तो ये सब अनिष्ट ज्यादा स्वच्छन्दी होकर समाज व राष्ट्र में अधिक अराजकता फैलाते हैं। पूंजीवाद में पूंजीपति दूसरे का शोषण करके अधिक से अधिक धनवान होना चाहता है, तो साम्यवाद में शासक दल समानता के नाम पर प्रजा की आवाज को दबाए रखता है। बहाना करता है-राष्ट्र विकास। समाजवाद में भी सबको समान बताने के लिये योग्यताओं को दबाया जाता है और परस्पर ईर्षा व वैर भावना फैलाते हैं। कारण है धर्म का-धर्म निरपेक्षता का सही अर्थ न जानना। धर्म का सही रूप न समझना।

भिन्न-भिन्न समाज अपनी-अपनी पूजा पद्धतियों से परम तत्व की ओर बढने का प्रयास करते हैं। इन पूजा पद्धतियों में किसी एक पूजा पद्धति को ही मान्यता मिले ऐसा न कर सभी को आपका मार्ग अपनाने की छूट है। अगर यह भाव इस निरपेक्षता का है तो इसे सम्प्रदाय निरपेक्ष कहा जाना चाहिए। धर्म तो आचरण की वस्तु है जिसका रूप है-'परित्राणाय साधूनाम्'। जिसका अर्थ है-जो

(शेष पृष्ठ 34 पर)

विचार-सरिता

(त्रिषष्टिः लहरी)

– विचारक

इस जगत में नाम-रूप से जानी जाने वाली प्रत्येक वस्तु अस्थिर है। स्थावर-जंगमरूप यह दृश्य-जगत् दिखायी देते हुए भी सपने में लगे मेले की भाँति अस्थिर है, चिरकाल तक टिकने वाला नहीं है। आज जहाँ उपवन और मनमोहक झरने झर रहे हैं कल वहाँ वीरान वन बन जाएगा। आज जिस शरीर को रेशमी वस्त्रों से सजा रखा है, गले में सुन्दर फूलों के हार तथा आभूषण शोभा पा रहे हैं, वही शरीर कल अग्नि के हवाले करके राख बना दिया जाएगा। आज जहाँ अट्टालिकाओं की दीर्घ कतारें खड़ी हैं कल वे सब ध्वंस होकर गड्ढों का रूप लेते देखे जा सकते हैं। आज जहाँ वीरान वन और पर्वत शृंखलाएँ हैं वहाँ कल ध्वजा-पताकाओं से आकाश को ढक देने वाला विशाल नगर बन सकता है। आज जो चक्रवर्ती सम्राट की शोभा पा रहा है वही कुछ काल उपरान्त भिक्षुक की स्थिति में आ जाता है।

संसार में ऐसा कौन सा दृश्य है जो चिरस्थायी है। यहाँ तो आकृतियाँ बदलने का क्रम चल रहा है। ऐसी कौनसी दिशाएँ हैं जहाँ दुःख और दाह नहीं है? वे कौन से जीव-शरीर हैं जो क्षणभंगुर नहीं हैं? छल-कपट और ईर्षा व डाह से भरे इस जगत् जंजाल में किस विचारवान को प्रसन्नता व सुख की चाहना हो सकती है।

विचारवानों की दृष्टि में यह जगत् संकल्प का निर्माण और मनोराज्य का विलास मात्र है। सपने के चित्रों की भाँति एक खुली आँख का स्वप्न है। शरद ऋतु में भोरकाल के उदित सूर्य की आभा में प्रतीत होने वाले गान्धर्व-नगर की शोभा है। वातरोग के कारण प्रतीत होने वाला भूकम्प, बालक को डराने के लिये कल्पित पिशाच, निर्मल आकाश में दृष्टि-दोष के कारण कल्पित मोतियों की माला और आकाश में खिले सुन्दर पुष्पों की तरह भ्रमजाल है। इस प्रकार जगत् मिथ्या होने पर भी चिरकाल तक अत्यन्त परिचय में आने के कारण घनीभाव (दृढ़ता) को प्राप्त होकर जीव के हृदयाकाश में प्रकाशित हो बढ़ने लगता है। वस्तुतः इस संसार में कुछ भी सार नहीं है। इस सृष्टि का कोई क्रम भी नहीं है क्योंकि यह सब जीव की अविद्या का परिणाम मात्र है।

यह संसार तो अविद्यारूपिणी सरिता का प्रवाह है जिसका न कोई आदि है और न कोई अन्त तथा न कोई किनारा ही है। मूढ़ लोगों के लिए यह इतनी विशाल है कि वे इसे पार नहीं कर सकते। सृष्टिरूपी चंचल तरंगों से ही यह तरंगवती जान पड़ती है। विचारवानों की दृष्टि में तो एक परमात्मा के अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु सत्‌रूप नहीं हो सकती। यदि सत्य कोई है तो एकमात्र परमात्मा ही सत्‌रूप है। उसी परमात्मारूपी विशाल महासागर में पुरानी और नई सृष्टिरूप असंख्य तरंगें उठती और विलीन होती रहती हैं। इस जगत् में जो विद्वान अविद्यारूपी आवरण से रहित है, जिसका अन्तःकरण स्वच्छ व स्थिर हो चुका है, जिसके सभी संकल्प-विकल्प शान्त हो चुके हैं तथा जो स्वरूपभूत सच्चिदानंदघन मय हो गया है, वह तत्वज्ञ पुरुष परम शान्तिरूपी अमृत से तृप्त रहता है। ऐसे परमानन्द स्वरूपचित्त में उठने वाली समस्त कामनाओं और कलनाओं को जिसने शान्त कर दिया है वहाँ यह जगत भी उसकी दृष्टि में ब्रह्मविलास अनुभूत होने लगता है। क्योंकि जब सर्वत्र एकरस परमात्मा ही अथाह सागरवत विराजित है तो उस सागर में संसाररूपी उठने वाली और मिटने वाली तरंगें भी उस सागर से भिन्न कैसे हो सकती है। जिस प्रकार सागर में उछाल हो और अनेक तरंगें प्रतीत हो रही हो और जब सागर शान्त तरंग-रहित हो तब भी जल में कोई भ्रान्ति नहीं। ऐसे ही जीवनमुक्त या विदेहमुक्त अवस्था में ज्ञानी के लिए संसार का अत्यन्ताभाव हो जाता है और एकमात्र सच्चिदानन्दघन परमात्मा के अतिरिक्त अन्य सभी भ्रान्तियों का अत्यन्ताभाव हो जाता है।

स्वर्ण से निर्मित समस्त आभूषणों में स्वर्ण के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। चीनी से निर्मित समस्त मिठाइयों में चीनी का ही तो रस है। चीनी से बनी गेंद, हाथी या घोड़ा चीनी के अतिरिक्त कुछ नहीं।ऐसे ही परिपूर्ण परमात्मा के अतिरिक्त जगत् नाम की कोई वस्तु का होना कैसे सिद्ध हो सकता है। जो साधक इस संसार की असारता एवं दुःखरूपता को देखकर अपनी सांसारिक बुद्धि का परित्याग कर देते हैं, वे साँकल से छूटे हुए गजराजों की भाँति संसार-बन्धन से मुक्त होकर परब्रह्म को अनुभूत कर जाते हैं। ऐसे महापुरुषों को मेरा बार-बार प्रणाम। ओम्! ओम्!!

मानव के दैनिक समर्पण

– ब्रिगेडियर मोहनलाल (से.नि.)

सनातन धर्म में पाँच प्रमुख दैनिक समर्पण का प्रावधान है। हर नागरिक स्वेच्छा पूर्वक इनका पालन करने में अपना गौरव समझता है। ये समर्पण निम्नलिखित हैं–

* ऋषियों व धार्मिक शास्त्रों के प्रति समर्पित रहना।
* देवों के प्रति समर्पित रहना।
* पितृों के प्रति समर्पण।
* मानव जाति के प्रति समर्पण।
* भूतों (अदृश्य जीवों) के प्रति समर्पण।

मनुस्मृति में वर्णित है–

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञ: पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो देवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथि पूजनम्।।

अर्थात् अध्यापन ब्राह्मणों (ऋषियों) का समर्पण है, तर्पण पितृों का समर्पण है, होम (हवन) देवों के लिये समर्पण है, बलि (आहार) भूतों का समर्पण है और अतिथि सत्कार मानव का समर्पण है। प्रत्येक समर्पण को व्यक्त करने का यह बाहरी (दृश्य) तरीका है और उसका आंतरिक (अदृश्य) भाव है कि मनुष्य अपने जीवन में इनका पालन करके अपना ऋण और कर्तव्य अदा करना चाहता है।

ऋषियों व धार्मिक शास्त्रों के प्रति समर्पित रहना :– ऋषियों और धार्मिक शास्त्रों के प्रति समर्पित रहने का सदृश्य तरीका है पढना और पढाना। अर्थात् मनुष्य का कर्तव्य है कि प्रतिदिन धार्मिक शास्त्र जैसे श्रीमद्भगवद्गीता, रामायण या अन्य देवार्षित शास्त्रों के कुछ अंश/श्लोक पढकर उस ज्ञान पर मनन करे तथा अपने कर्तव्य को समझे। तत्पश्चात् उस ज्ञान को अनभिज्ञ लोगों में बाँटे। शास्त्रीय ज्ञान को सावधानी से पढना और विवेकपूर्ण समझना और समझाना अधिक महत्त्वपूर्ण है, बनिस्पत कि अधिक पढना/पढाना। इस पठन-पाठन का आंतरिक महत्त्व है कि मनुष्य उस ज्ञान को दूसरों में बाँटे ताकि सभी धर्म के प्रति समर्पित रहें।

देवों के प्रति समर्पित रहना :– देवों के प्रति समर्पित रहने का बाहरी स्वरूप हवन व पूजा करना है। इससे यह जाहिर है कि हम पूर्ण श्रद्धा के साथ भगवान की शरण में हैं और यह स्वीकार करते हैं कि प्रभु ने हमें इस प्रकृति का हिस्सा बनाकर संरक्षण दिया, उसके लिए हम उसकी कृपा के सदा ऋणी हैं। इसका आन्तरिक भाव यह है कि प्रकृति में हम एक दूसरे पर निर्भर हैं। अत: हमें प्रकृति के साथ समन्वय से रहना चाहिए और हमारे पास जो अधिकार या संपत्ति है उसे दूसरों व प्रकृति के साथ बांटने को तत्पर रहना है। भगवान कृष्ण ने गीता में कहा है–

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहंत्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच:।।

66/18

अर्थात् संपूर्ण कर्तव्यों को मुझ में त्याग कर तू केवल एक मुझ परमेश्वर की शरण में आ जा। मैं तुझे संपूर्ण पापों से मुक्त कर दूंगा। अत: देवों के प्रति समर्थित रहने के लिये हम हवन/पूजा द्वारा अपना सर्वस्व देवों को सौंप देते हैं और देवों के सदा ऋणी रहते हैं।

पितृों के प्रति समर्पित रहना :– पितृों के प्रति समर्पित रहने का बाहरी तरीका तर्पण है यानी अपने पूर्वजों की पानी की तृप्ति पूर्ण करना। इसका आंतरिक भाव प्रकट करता है कि हम अपने पूर्वजों के अति ऋणी हैं कि उन्होंने हमें रहने के लिये धरती-माता प्रदान की, उन्होंने दिन रात परिश्रम करके हमें इस प्रकृति में रहने योग्य बनाया। यदि कोई मनुष्य अपने पूर्वजों के ऋण का आदर नहीं करता तो वह सही अर्थों में इन्सान नहीं है।

मानव जाति के प्रति समर्पित रहना :– मानव जाति के प्रति समर्पित रहनेका बाहरी स्वरूप है-अतिथि सत्कार। हमारी संस्कृति के अनुसार 'अतिथि देवो भव:'। अत: प्रतिदिन भूखे को भोजन कराना, दीन-अभागे को शरण देना, कपड़ा देना, दुखी की हर तरह की मदद करनी चाहिए। इसका आन्तरिक भाव है-मानव जाति की सेवा करना ही मानवता है। अर्थात् नर सेवा-नारायण

सेवा। परन्तु हमने अपने आपको जातिवाद, सम्प्रदायवाद, क्षेत्रवाद, भ्रष्टाचार, अनैतिकता आदि बुराइयों में बांट लिया है, जिसके कारण देश की धार्मिक व सामाजिक संस्थाएँ, आज की महामारी व प्राकृतिक आपदा के समय भी मानव सेवा के लिए आगे आने से हिचकिचाती हैं। जबकि हमारी संस्कृति है कि हम मानव सेवा के लिए सदा समर्पित रहे।

भूतो (अदृश्य जीवों) के प्रति समर्पण :- भूतो यानी अदृश्य जीवों व प्राणियों के प्रति समर्पित रहने का बाहरी तरीका है कि भोजन करने से पहले कुछ भोजन का हिस्सा अदृश्य जीवों के लिए अलग कर दें ताकि बाद में वह भोजन उनको समर्पित कर सकें। इसका आंतरिक भाव है कि अन्य प्राणी और जीव कुछ न कुछ प्रकार से हमारी सेवा करते हैं, हम उनकी सेवाओं के लिए ऋणी हैं और अपना दायित्व उनके प्रति प्रकट करते हैं।

उपरोक्त प्रमुख दैनिक समर्पणों से स्पष्ट है कि मनुष्य अकेला इस सृष्टि में जीवन यापन नहीं कर सकता। मनुष्य को संपूर्ण प्रकृति के जीवन-चक्र का हिस्सा बनकर रहना होगा। मनुष्य और प्रकृति का जीवन, उनका फलना-फूलना एक दूसरे पर निर्भर करता है। अत: आपसी समन्वय, एक दूसरे की सेवा और मदद से ही जीवन चक्र ईश्वर इच्छानुसार चल सकता है। अत: हमारे परिवार, देश व विश्व की सुरक्षा, सुख-सुविधा और विकास तभी सम्भव है जब मनुष्य इस जीवन चक्र का उपयोगी सहायक बने। ❑

पृष्ठ 19 का शेष **जालोर के सोनगरा चौहान**

हाथियों सहित पकड़े गये। खिलजी के विरुद्ध राजपूतों की संभवत: यह अन्तिम विजय थी।

जिस समय सीह मलिक तथा हरम राजपूतों द्वारा पकड़ कर जालोर लाया गया उस समय वीका दहिया ने सीह मलिक से मित्रता कर ली- जब कमालुद्दीन किसी भी तरह किले को लेने में सफल नहीं हुआ तब सीह मलिक ने वीका दहिया को फुसलाकर तथा कान्हड़देव के बाद उसे राज्य का उत्तराधिकारी बनाने का लालच देकर किले के गुप्त मार्ग की जानकारी प्राप्त कर ली। नराधम वीका कमालुद्दीन की सेना को रात्रि में गुप्त मार्ग से किले में ले आया। वीका ने यह खबर अपनी पत्नि हीरांदे को सुनाई जिसे सुनकर उसने अपने देशद्रोही पति की हत्या कर दी तथा जल्दी से यह खबर कान्हड़देव को देने पहुँची तब तक शत्रु सेना किले में आ चुकी थी। कान्हड़देव के वीर सामन्तों ने जमकर शत्रु से लोहा लिया तथा एक-एक कर अपनी सैन्य टुकड़ियों सहित वीरगति को प्राप्त होने लगे।

कान्हड़देव की रानियों जैतलदे, भावलदे, उमादे तथा कमलादे ने अपनी सेविकाओं तथा अन्य स्त्रियों के साथ जौहर कर लिया। किले में रहने वाले अन्य जातियों की स्त्रियों ने भी अपने-अपने घरों में जौहर कर लिया लगभग हर घर में जौहर हुआ।

शत्रु सेना के किले में घुसने के पांचवें दिन कान्हड़देव वीरतापूर्वक लड़ते हुए अलोप हो गये। जब कान्हड़दे वीरतपूर्वक अपनी अन्तिम लड़ाई लड़ रहे थे तब वीरमदेव अन्य मोर्चे पर तैनात थे। वे तत्काल लड़ाई के मैदान में आकर बचे खुचे सामंतों व राजपूत सैनिकों के साथ शत्रु सेना का प्रतिरोध करने लगे तथा साढे तीन दिन तक निरंतर लड़ते रहे। अंत में घायल होकर घोड़े से गिर जाने तक वीरतपूर्वक लड़ते रहे। जब उन्हें लगा कि शत्रु जीवित ही पकड़ना चाहते हैं तब अपने पेट में कटारी भोंक कर स्वयं वीरगति का मरण कर लिया। केवल मालदेव जीवित रहा।

कान्हड़दे प्रबंध के अनुसार दादा सनावर वीरमदेव का कटा मस्तक लेकर दिल्ली गई जहाँ पीरोजा को देखते ही कटे मस्तक ने मुँह फेर लिया। शहजादी ने वीरमदेव के सिर का अन्तिम संस्कार करवाया तथा स्वयं यमुना में कूद कर वीरम के साथ रहने स्वर्गलोक चली गयी।

इसी के साथ सवा शताब्दी तक शत्रुओं से टक्कर लेने वाले सोनगरा चौहान अपनी आन, बान और शान शत्रुओं से लोहा लेते हुए वीरतपूर्वक लड़ते-लड़ते वीरगति को प्राप्त होकर कीर्ति शेष हो गये। उनकी यशगाथा इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों पर आज भी जगमगा रही है। ❑

अपनी बात

सांसारिक अर्थों में जो सब भाँति सुखी होता है, उसे भी महसूस होता है कि इस सुख में कुछ सार नहीं है। दुखी को तो पता ही नहीं चलता क्योंकि दुखी तो इसी आशा में जीता है कि सांसारिक सुख मिल जाएंगे तो सब ठीक हो जाएगा। दुखी आदमी की आशा में बड़ी जीवन्तता होती है। दुखी आदमी की आँखों में आशा की ज्योति होती है। सुखी आदमी की आँखों से आशा की ज्योति खो जाती है, सांसारिक सुख पाकर उसने देख लिया कि इसमें सुख नहीं है। इसलिए ऐसे आदमी की धार्मिक यात्रा पर निकलने की संभावना अधिक है।

जब व्यक्ति के पास सब तथा कथित सुख हैं और फिर भी सुख नहीं है, तब एक बात साफ हो गई कि इस संसार के सुखों से सुख नहीं हो सकता। बाहर से जितना इकट्ठा कर सकते थे वह सब कुछ कर लिया तब व्यक्ति ऐसी स्थिति में पहुँचता है जहाँ सारे भ्रम टूट गये। जहाँ सारी मृगमरीचिकाओं के सपने उखड़ गये, व्यक्ति ने घूंघट उठाकर देख लिया, इनके भीतर कुछ नहीं है, भीतर रिक्तता है। तब अड़चन जरूर होती है।

जब कोई सांसारिक अर्थों में सब भाँति सुखी होता है और फिर भी उसको अड़चन होती है, फिर मामला क्या है? अब उसे चाहिए ऐसा तो कुछ भी नहीं, सब कुछ उसके पास है-धन है, प्रतिष्ठा है, परिवार है, सब भाँति सुखी उसे होना चाहिए। यही तो वह माँगता था। इन्हीं के न होने के कारण अब तक दुखी था, पर अब दुखी क्यों है? अब तो उसे दुखी नहीं होना चाहिए।

उसकी भ्रांति टूटी। वह जिन कारणों से सोचता था कि दुखी हूँ, वे असली कारण नहीं थे। व्यक्ति सोचता है कि इतनी-इतनी चीजें हो जाएंगी तो मैं सुखी हो जाऊँगा, अब उसे पता चला कि वे सब चीजें हैं पर सुख नहीं आया। तो उसके सुख के संबंध का सारा विश्लेषण गलत था, कुछ और चाहिए था जिससे सुख मिलता है। कुछ भीतर जगना चाहिए, उससे सुख मिलता है।

प्राप्त पुरुषों का कथन है-सुख बाहर की किसी शर्त के पूरे होने से नहीं मिलता। सुख आत्म-जागृति की छाया है। सुख तो परमात्मा को मिलने से ही मिलता है। और परमात्मा हमारे भीतर छिपा बैठा है, मगर हम बाहर दौड़े चले जाते हैं। हमने पीठ कर रखी है उसकी तरफ परमात्मा को भी हम खोजने जाते हैं तो बाहर जाते हैं। प्राप्त पुरुषों का तो स्पष्ट कथन है-''तुम आँख बन्द कब करोगे? तुम अपने भीतर कब झांकोगे? तुम खोजने वाले में कब खोजोगे? यह तुम्हारे भीतर जो चेतना है, जरा उससे संबंध बनाओ, जरा इसमें जड़ें फैलाओ। जरा इससे परिचय बनाओ। बस इसके परिचय से ही सुख मिलता है। संसार में न तो सुख है, न हो सकता है, न कभी हुआ है, न कभी होगा। सुख तो केवल तब होता है जब तुम्हारा अंतरमन में छिपे मालिक से मिलन होता है।

''परमात्मा से पहचान हो, उससे थोड़ा नाता बने, नेह-नाता बने, उससे थोड़े प्रेम का सूत्र जुड़े। कच्चा धागा ही सही उसके प्रेम का-और सुख की अनंत वर्षा हो जाती है। सारा संसार पाकर जो नहीं मिलता, वह समाधि का एक क्षण पाकर मिल जाता है।

''संपदा भीतर है। संपदा तुम लेकर आये हो। सुख तुम्हारा स्वभाव है। सुख को अर्जित नहीं करना है। सुख के लिए कोई शर्त पूरी नहीं करनी है। सुख बेशर्त है क्योंकि सुख स्वभाव है। दुखी होना विभाव है, सुखी होना सहज घटना है। जैसे आग गरम है, यह उसका स्वभाव है-ऐसे मनुष्य आनन्दित हो, यह उसका स्वभाव है। आनन्दित हो, यह उसका स्वभाव है। आनन्दित मनुष्य को देखकर यह मत सोचना कि कुछ विशिष्टता हो गई। आनन्दित मनुष्य सामान्य मनुष्य है, सरल मनुष्य है। दुखी मनुष्य को देखकर समझना कि कुछ गड़बड़ है, कुछ विशिष्टता है। दुखी आदमी असाधारण आदमी है क्योंकि जो नहीं होना चाहिए उसने वह करके दिखा दिया। सुखी आदमी तो वही कर रहा है, जो होना चाहिए। जैसे कोयल कूके, गीत गाये-इसको तुम विशिष्टता तो नहीं कहते। हाँ कोयल एक दिन कौवे की तरह कांव-कांव करने लगे तो अड़चन होगी।''

आप्त पुरुष ने शायद हमारी साधारण व्यक्ति की सोच को झंझोड़ा है। हम बाहर सुख ढूंढते हैं जबकि वह तो हमारे अन्दर है ही। मनुष्य का सुख एकदम सहज बात है। जैसे वृक्ष हरे होते हैं, फूलों में गंध होती है, पक्षी पंख फैलाकर आकाश में उड़ते हैं, ऐसा ही सुख मनुष्य का स्वभाव है। इस स्वभाव को हमने सच्चिदानंद कहा है। इसके तीन लक्षण हैं-सत, चित, आनन्द। सत का अर्थ होता है-जो है और कभी मिटेगा नहीं, जो शाश्वत है। चित का अर्थ होता है-चैतन्य, जागरण, ध्यान, समाधि। और आनन्द पराकाष्ठा है। जो है और ध्यानमग्न है, उसमें आनन्द की सुवास उठती है।

सत बनें ताकि चित बन सकें। जिस दिन चित बने उसी दिन आनन्द की सुवास उठेगी। सत्य के वृक्ष पर चित के फूल लगते हैं, आनन्द की सुगंध बिखरती है।

क्या हमारे पास है, क्या हमारे पास नहीं है-इससे सुख का कोई लेना-देना नहीं है। क्या हम हैं, इससे सुख का सम्बन्ध है। वस्तुएँ कितनी ही इकट्ठी कर लें, उनसे शायद हमारी चिन्ताएँ बढ जाएँ, परेशानियाँ बढ जाएँ, मगर सुख नहीं बढेगा। उनसे दुख जरूर बढ सकता है मगर सुख के बढने का कोई सम्बन्ध नहीं है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि हम वस्तुओं को छोड़ दें, भाग जाएँ। जो है सो ठीक है, न छोड़कर भागने से कुछ होने वाला है, न पकड़ने से कुछ होने वाला है। जैसे हैं वैसे रहें मगर तलाश भीतर शुरू करें। बहुत हो चुकी बाहर की खोज, अब भीतर जाएँ। अब उससे पहचान करें जिससे पहचान हो जाती है तो सब मिल जाता है। सब आकांक्षाएँ तत्क्षण पूरी हो जाती हैं। हम परिवार में रहते हैं, समाज में रहते हैं, संसार में रहते हैं, उनके प्रति अपने दायित्वों को निभाएँ, पर लिप्तता न रखें। संघ के शिक्षण को जीवन में उतार लेने का प्रयास करें तो भीतर झांकने में सहायक बनता है। सांसारिक जल में रहते हुए भी जल से ऊपर खिले कमल के फूल की तरह का पू. तनसिंहजी व पू. नारायणसिंहजी का जीवन हमने देखा है। हम भी भीतर झाँकने का प्रयास करें।

पृष्ठ 29 का शेष

धर्म-निरपेक्षता

अच्छा है, साधु यानी सद् है उसकी रक्षा करना। उसकी रक्षा कैसे हो सकती है? धर्म को आचरण में लाने से ही उसकी रक्षा हो सकती है। सद्गुणों को हम आचरण में नहीं लाते हैं, हमारे जीवन व्यवहार में नहीं लाते हैं तो वे धीरे-धीरे लुप्त हो जाते हैं। उनका क्षय हो जाता है और जो अवगुण हैं-असद्, असाधु है, असत्य, अन्याय, अनीति, अज्ञान, अंधकार, निर्दयता, अकरुणा आदि फैल कर संसार में हावी हो जाते हैं। जब संसार में आसुरी गुण, आसुरी वृत्ति की सत्ताव्याप्त हो जाती है तब संसार में सुख-शान्ति और समृद्धि कैसे आ सकती है? यही आज के युग के बुद्धिशाली और शिक्षित कहे जाने वाले मानव की धर्म निरपेक्षता है। इन लोगों की धर्म निरपेक्षता का अर्थ है-'परित्राणाय असाधूनाम्'।

कुरुक्षेत्र के मैदान में जब अर्जुन स्वधर्म विमुख होता है तब भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को धर्माभिमुख होकर स्वधर्म पालन करने के लिये प्रेरित करते हैं। ईश्वर प्राप्ति का यही मार्ग है-धर्म का पालन करना। श्री क्षत्रिय युवक संघ गीता के इसी उपदेश को उस पर चलकर, उसे अपने आचरण में लाकर ईश्वर प्राप्ति का सरलतम साधन मानता है। इस आचरण को धर्माचरण मानता है जो ईश्वर प्राप्ति का सरलतम मार्ग है। सत्य, न्याय, नीति, प्रेम, दया, करुणा, प्राणीमात्र पर समभाव इत्यादि सद्गुणों को कौन नहीं चाहता? यही तो धर्म सापेक्षता है। फिर मनुष्य, प्राणी, समाज, देश धर्म निरपेक्ष कैसे रह सकता है? धर्मनिरपेक्ष होने का मतलब है परिवार, समाज, देश और पूरे संसार में अराजकता फैलाकर दुख पैदा करना। संसार में सुख, शान्ति, समृद्धि लाना है तो मनुष्य को धर्माभिमुख होना पड़ेगा। श्री क्षत्रिय युवक संघ हम में इन्हीं संस्कारों का निरुपण करने का कार्य कर रहा है। यही उसकी सामुहिक संस्कार निर्माण की प्रणाली है।

क्षात्रधर्म की जय!

जालोर सम्भाग द्वारा भावपूर्ण श्रद्धांजलि

स्व. विशन सिंह पुत्र छैल सिंह जी भायल

(स्वर्गवास 15 मई 2021)

गांव - पादरू, तहसील-सिवाना, जिला बाडमेर

-: सादर श्रद्धांजलि :-

सुमेर सिंह कालेवा, गंगा सिंह पादरू, दलपतसिंह तूरा,
भवानी सिंह देता, दीप सिंह दूदवा, हिम्मत सिंह आकवा,
पूरण सिंह दहिवा, छत्र सिंह दहिवा, जसवंत सिंह बावतरा,
महेंद्र सिंह बावतरा, समंदर सिंह निम्बलाना
एवं समस्त मित्रगण, सायला, जिला-जालोर

मेवाड़-वागड़-मालवा सम्भाग द्वारा भावपूर्ण श्रद्धांजलि

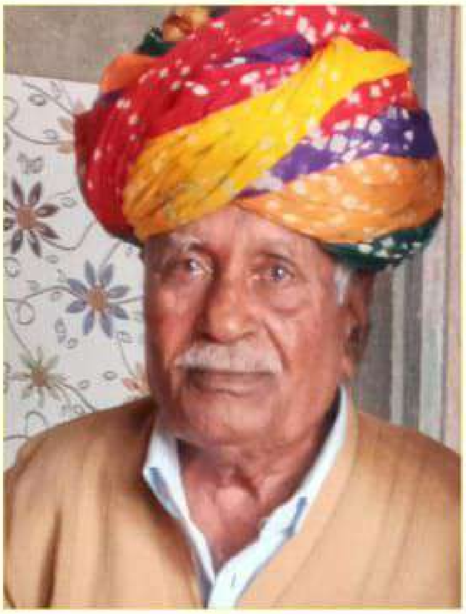

स्व. सायर सिंह जी चंडालि
बडगांव, अजमेर

श्री गोपाल शरण सिंह जी
सहाड़ा, चित्तौडगढ़

जुलाई, सन् 2021
वर्ष : 58, अंक : 07

समाचार पत्र पंजी.संख्या R.N.7127/60
डाक पंजीयन संख्या - Jaipur City /411/2020-22

संघशक्ति

ए-8, तारानगर, झोटवाड़ा,
जयपुर-302012
दूरभाष : 0141-2466353
E-mail : sanghshakti@gmail.com
Website : www.shrikys.org

श्रीमान्...

....

....

स्वत्वाधिकारी श्री संघशक्ति प्रकाशन प्रन्यास के लिये, मुद्रक व प्रकाशक, लक्ष्मणसिंह द्वारा ए-8, तारानगर, झोटवाड़ा, जयपुर से : गजेन्द्र प्रिन्टर्स, जैन मन्दिर सांगाकान, सांगों का रास्ता, किशनपोल बाजार, जयपुर फोन : 2313462 में मुद्रित। सम्पादक-लक्ष्मणसिंह